दुष्यंत

के जाने पर

दोस्तों की यादें

सं० : कमलेश्वर

प्रकाशक
किताबघर प्रकाशन
4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 23266207, 30180011 फैक्स : 23271844
E-mail : kitabghar_prk@yahoo.com
kitabgharprakashan@gmail.com

प्रथम संस्करण : 2013

मूल्य : दो सौ रुपये

मुद्रक : बी०के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

DUSHYANT KE JAANE PAR
DOSTON KI YADEIN (Hindi)
Ed. by Kamleshwar
Price : Rs. 200.00

ISBN—978-93-82114-25-3

क्रम

दुष्यंत के साथ आखिरी शाम

कैलाश शुंगलू

यूं तो दुष्यंत के साथ बिताई हर शाम एक यादगार है, लेकिन 29 दिसंबर की शाम आखिरी शाम होगी, कभी सोचा भी नहीं था।

उस दिन भी, यानी 29 दिसंबर की दोपहर को, दुष्यंत का मेरे घर, मेरी बीवी को टेलीफोन आया। कह रहा था—'शाम को घर आ रहा हूं। 'ख' की शादी करानी है। उसके यहां चलेंगे।' इस पर मेरी बीवी ने कहा—'अकेले मत आना। राजो को भी साथ में लाना।'

शाम को दुष्यंत अपनी श्रीमती के साथ मेरे घर आया। कोई सात बजे होंगे। मैंने देखा—'गहरे सुर्ख रंग का चमकदार हेल्मेट पहने दुष्यंत बहुत खुश था।' आते ही उसने कहा—'देखो, आज से मैंने हेल्मेट पहनना शुरू कर दिया।' मैंने कहा—'लेकिन इतना चमकदार! कोई हलका-सा रंग ले लिया होता।' इस पर वो खिलखिलाकर हंस पड़ा—'अपनी जिंदगी को मैं इतनी ही रंगीन और चमकदार पसंद करता हूं।'

दुष्यंत और मैं अपनी बीवियों सहित अहमदाबाद रोड पर बने उस दोस्त के बंगले पहुंचे, जिसकी शादी की फिक्र उस दोस्त को कम और हमें ज्यादा थी। पहुंचते ही दुष्यंत ने झिलमिलाते सितारों, ठंडी हवा, तालाब के किनारे और खुशनुमा मौसम को लेकर चंद शे'र सुना डाले। बोला—'प्यारे, तेरी शादी तो हम करा ही देंगे। इस माहौल में एक व्हिस्की तो हो ही जानी चाहिए।'

मेरे घर लौटकर दुष्यंत बोला—'अब चलूंगा।' चलने के पहले ही मेरे दोस्त बवेजा आ गए, जो जयपुर से आए हुए थे। दुष्यंत के लपेटों से बवेजा भी वाकिफ हुए। फिर तो बवेजा ने उसे जाने नहीं दिया। बातें शुरू हो गईं। दुष्यंत की शायरी की बात निकली तो बवेजा ने कहा—'बिना सुनाए शाम कैसे बीतेगी?' दुष्यंत ने कई मूड्स और शेड्स की गजलें सुनाई। दुष्यंत मेरे घर से वापस हुआ। हंसता, खिलखिलाता।

रात तीन बजे टेलीफोन की घंटी बजी। किसी ने कहा—'मैं दुष्यंत कुमार के

घर से बोल रहा हूं।' और फोन बंद हो गया। मुझे लगा, कहीं दुष्यंत का स्कूटर एक्सीडेंट तो नहीं हो गया। किसने टेलीफोन किया? क्यों किया? फिर ठीक से नींद नहीं आई।

सवेरे छह बजे, दुष्यंत के बेटे आलोक का फोन आया—'अंकल, पापा नहीं रहे...।' 'ये तुम क्या कह रहे हो? ये कैसे हुआ? क्या हुआ? क्यों हुआ...'

"हाय दुष्यंत..."

29 दिसंबर की वह रात

राजेश्वरी त्यागी

29 दिसंबर की रात, लगभग साढ़े ग्यारह बजे हम भोपाल आकाशवाणी के केंद्र-निर्देशक श्री शुंगलू के यहां से खाना खाकर लौटे थे।

मैंने घर लौटकर स्कूटर से उतरकर दरवाजा खोला और वह अपना शे'र गुनगुनाते हुए स्कूटर को अंदर ले आए।

दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो,
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।

अर्चना और आलोक कुछ देर पहले ही एक शादी से लौटे थे और अपनी-अपनी रजाइयों में दुबके वे शादी में हुए कार्यक्रमों पर बात कर रहे थे। वह मस्ती के साथ शे'र गुनगुनाते हुए उन दोनों के पास जाकर बैठ गए। अर्चना ने कहा—'पापा, बड़ी मस्ती में हो आज।'

'अरे, हम कब मस्ती में नहीं रहते, बेटे! आज भाभी जी ने वो बढ़िया खाना खिलाया कि बस मजा आ गया। तुम लोग सुनाओ, शादी कैसी रही?'

बच्चों ने बताया कि शादी बड़ी अच्छी रही। अर्चना बोली—'पापा, आज शादी में सत्येन आंटी-अंकल भी आए थे, लड़की वालों की तरफ से। उन्होंने आपकी कॉलेज लाइफ के चुटकुले सुनाकर हम लोगों को बेहद हंसाया।'

वह आकर पलंग पर लेटे क्योंकि उनके हलका-सा सिरदर्द था कि बाहर ऑटोरिक्शा आकर रुका। रात को बारह बजे कौन हो सकता है, सोचती हुई मैं दरवाजे तक आई। देखा छुटवा था, मुझे देखकर वह बोला—'चाचाजी हैं?' मेरे दिमाग में उनके सिरदर्द की बात घूम रही थी। मैं कुछ कहती, इससे पहले ही वह बोल उठे—'क्या बात है, भाई छुटवा? अंदर आ जा।' मैं तो झुंझलाई हुई बाहर ही खड़ी रह गई और वह यह कहता हुआ अंदर पहुंच गया—'चाचाजी, आपको अभी चलना पड़ेगा। दरोगा बड़ा तंग कर रहा है।' उन्होंने उससे कुछ बातें और भी कीं और पूछीं। वह उनके पास बैठा हुआ सब बताता रहा। अचानक ही मुझे पुकारकर उन्होंने कहा—'राजो भई, ये छुटवा मुझे चलने को कह रहा है।' मैंने चिढ़ते हुए लेकिन उसकी

उपस्थिति के कारण अपने को संयत रखते हुए कहा—'कहां जाओगे इस वक्त!'

मेरे रोकने के बावजूद वह पलंग से उठ खड़े हुए और बोले—'राजो, मेरे जाए बिना काम नहीं होगा। किसी का भला होता है तो इसके लिए थोड़ी तकलीफ ही सही। मेरा ओवरकोट उठा दो, उसमें मुझे ठंड भी नहीं लगेगी।'

रात्रि को एक बजा होगा, जब ऑटो की आवाज सुनाई दी। वह लौट आए थे। कपड़े बदलकर बिस्तर पर लेटे ही थे कि कहने लगे—'राजो, सीने में दर्द हो रहा है।' मैंने पूछा—'कैसा दर्द है? सीना मल दूं?' बोले—'नहीं, मलने से कुछ नहीं होगा।'

मैंने कहा—'डॉक्टर को बुलवाऊं?' वह बोले—'हां।'

मैंने जल्दी-जल्दी अपने बड़े बेटे आलोक को उठाया और उससे डॉक्टर को बुला लाने को कहा। उसने जाते हुए पूछा—'पापा, दर्द कैसा है?' उन्होंने कहा—'डॉक्टर से कहना कि सीने में अनबेयरेबल पेन है।'

आलोक स्कूटर लेकर घर से निकला ही था कि उन्हें एक भारी उल्टी हुई। मैं बहुत घबरा गई। मैंने अर्चना को उठाया। उन्हें किसी भी तरह चैन नहीं मिल रहा था। इतने में डॉक्टर आ गए। बड़ी बेचैनी के साथ उन्होंने डॉक्टर को अपना हाल बताया। कहने लगे—'डॉक्टर, बड़ा दर्द है।' मैंने डॉक्टर को बताया कि अभी इन्हें एक भारी उल्टी हुई है। डॉक्टर ने बैठकर प्रेसक्रिप्शन लिखा। डॉक्टर ने प्रेसक्रिप्शन लिखते हुए कहा—'देखिए मिस्टर त्यागी, मैंने आपसे ज्यादा ड्रिंक्स के लिए मना किया था।' वह बोले—'बट, ई०सी०जी० एश्योर्ड मी।'

डॉक्टर बोले—'अभी मैं एक इंजेक्शन लिख देता हूं। वह इन्हें लगवा दीजिए, ये सो जाएंगे तो आराम मिल जाएगा।' फिर डॉक्टर आलोक की तरफ मुखातिब होकर बोले—'देखो, यह इंजेक्शन केमिस्ट की दुकान पर नहीं मिलेगा। अस्पताल चले जाओ, वहां होगा तो मिल जाएगा। कंपाउंडर को भी साथ में लेते आना।' उन्होंने इंजेक्शन का नाम और कंपाउंडर का नाम एक स्लिप पर लिखकर दिया और आलोक उन्हें छोड़ने चला गया।

वह उतनी ही बेचैनी से करवटें बदल रहे थे। मैं उनकी बाईं तरफ चारपाई पर बैठ गई। वह बोले—'राजो, सीने में बाईं ओर बहुत दर्द है। तुम अपना हाथ रख दो।'

कमरे में अंधेरा था। लाइट उन्होंने बंद करवा दी थी। बस, बरामदे की थोड़ी-बहुत रोशनी कमरे तक पहुंच रही थी। सिरहाने रखे हुए स्टूल पर अर्चना बैठी थी। वह बोले—'मेरे हाथों से आग निकल रही है। हाथों की नसें बेहद खिंच रही हैं।' हम दोनों उनकी हथेलियां सहलाने लगे। थोड़ी देर के बाद वह बोले—'बस बेटे, लगता है, हम तो चल दिए।'

अर्चना रुआंसी हो बोली—'नहीं पापा, ऐसा नहीं कहते। आप जल्दी ठीक हो जाएंगे।' इतने में बाहर स्कूटर की आवाज सुनाई दी। आलोक के साथ कंपाउंडर था। कंपाउंडर को देखकर ढाढ़स बंधा कि चलो अब इंजेक्शन लगने से इन्हें आराम मिल जाएगा। कंपाउंडर ने इंजेक्शन लगाया। आलोक फिर उसे छोड़ने चला गया। इंजेक्शन लगवाने के बाद उन्होंने हाथ नहीं मलवाए। मैंने पूछा—'दर्द कुछ कम हुआ?' बोले—'नहीं, अभी तो वैसा ही है।'

फिर उन्होंने दाईं ओर करवट बदल ली। मैंने पूछा—'एक तकिया और दूं।' वह बोले—'हां।' एक तकिया उन्होंने घुटने के नीचे रखा। एक सिरहाने लगाया और एक को बाएं हाथ से सीने के पास लगा दबा लिया। अब उनकी बेचैनी धीरे-धीरे कम हो चली थी। बेहोशी छाने लगी थी। अर्चना ने पूछा—'पापा, अब कैसा लग रहा है?' वह बोले—'ठीक हूं।'—'नींद आ रही है?' अर्चना ने पूछा।

'हूं।'

थोड़ी देर बाद मैंने उनकी तबीयत जाननी चाही, लेकिन तब तक वह सो चुके थे। आलोक लौट आया था। मैंने उसे बताया कि वह सो गए हैं, तो वह बाहर बरामदे में लेट गया। अर्चना भी अपने पलंग पर चली गई। मैं अकेली बैठी अपने आप को समझाती रही।

उस वक्त कोई ढाई बजे होंगे जब उन्होंने बाईं ओर करवट बदली। गले से खर-खर की आवाज आ रही थी। मैं बुरी तरह घबरा गई। मैंने दोनों बच्चों को उठाया और उनसे कहा—'जाओ, अपने चाचाजी को बुला लाओ और टैक्सी भी लेते आना। अपूर्व को उठाया और उसे डॉक्टर को लाने भेजा। मैं बिलकुल असहाय उनके पास बैठी उनकी सांसों की आवाज सुनती रही। उनकी सांसों में बदलाव आता जा रहा था। फिर उन्हें दो-तीन हिचकी आईं और उनके गले की आवाज भी बंद हो गई। सब कुछ समाप्त हो चुका था, लेकिन मेरा मन इतने बड़े सत्य को स्वीकारने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। मैंने फिर अपूर्व को ऑटो के लिए दौड़ाया। अप्पू अभी आधे रास्ते ही गया होगा कि अर्चना मुन्नू जी के साथ लौट आई। मुझे अभी भी आशा थी, मैंने अर्चना को एंबुलेंस के लिए फोन करने के लिए दौड़ाया और मुन्नू जी से कहा—'देखो तो तुम्हारे भैया को क्या हो गया है।' मुन्नू जी ने उन्हें हिलाया—'भैया, भैया! कहकर आवाजें दीं, लेकिन वह नहीं बोले।' इतने में आलोक हॉस्पिटल की जीप लेकर आ गया। मुन्नू जी और आलोक डॉक्टर को लेकर आए। डॉक्टर ने कुछ देखा-भाला और कहा कि 'सब कुछ खत्म हो चुका है।' सब खत्म तो बहुत पहले हो चुका था, सिर्फ मेरा मन ही नहीं मान पाया था…।

मेरे लिए दुष्यंत कुमार

शानी

रात आधी और कमरे में अंधेरा था। उस ड्राइंगरूम-कम-स्टडी-कम-बेडरूम में बीचोबीच दो चारपाइयां बिछी हुई थीं। और हम दोनों अपनी-अपनी चारपाइयों पर लेटे सोने की कोशिश या उसका नाटक कर रहे थे। थोड़ी देर पहले हम दोनों बाहर से लड़कर आए थे। और रास्ते में हमने एक-दूसरे से बिलकुल बात नहीं की थी।

लड़ाई की शुरुआत एक साहित्यिक बहस से होती हुई एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर आ गई थी या बार-बार लौटकर बहस की टेक उसी पर टूटने लगी थी। दरअसल हम दोनों कमीनेपन के स्तर पर आकर बहस के बहाने एक-दूसरे को ज्यादा से ज्यादा आहत करने की कोशिश कर रहे थे। जाहिर है कि लौटते हुए हम दोनों के मन में आहत अहं का दर्द, एक-दूसरे को नंगा करने या होने की तकलीफ और वक्ती तौर की जबरदस्त नफरत आपस में गड्ड-मड्ड हो रही थी और मैं अंदर ही अंदर फैसला कर रहा था कि मुझे इस बेमुरव्वत, बेरहम और सख्तदिल आदमी से आगे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

बहुत देर हो गई थी।

कमरे में आते ही उसने बत्ती बुझा दी थी और हम दोनों अपने-अपने बिस्तरों पर छत्तीस का आंकड़ा बनाए लेट गए थे। बड़ी देर तक चुप्पी रही थी। फिर एक-दूसरे की करवटें लेने या अपने-अपने तकियों की जगह बदलने की आवाजें अंधेरे में उभरती रहीं। फिर यह हुआ कि हम दोनों बिलकुल बेआवाज हो गए—एकदम निश्चल!

मैं बहुत आहत था। पुंसत्वहीन क्रोध और नफरत ने मेरी आंखों को आर्द्र कर दिया था। अचानक मैंने महसूस किया कि अंधेरे में एक टटोलता हुआ हाथ मुझे छू रहा है। वह मेरा हाथ ढूंढ़ रहा था। एक क्षण बाद बहुत गर्मजोशी से मेरा हाथ दबाकर उसने कहा—'तू जानता है कि मेरी-तेरी लड़ाइयों की जड़ कहां है?'

न तो मैं जानता था और न मैंने कुछ कहा।

असल में यार, उसने भरे हुए कंठ से कहा—'मैं तुझे थोड़ा सा बुरा बनाना

चाहता हूं और तू मुझे थोड़ा सा अच्छा, बस मेरी-तेरी कॉन्फ्लिक्ट इतनी ही है'''' कहकर उसने मेरा हाथ छोड़ दिया, करवट बदली और सो गया।

यह दुष्यंत कुमार था। यह लगभग बारह वर्ष पहले की बात है और मैं ग्वालियर से आया हुआ उसका मेहमान था।

किसी ऐसे दोस्त के बारे में, जिससे आत्मीय दोस्ती और आत्मीय दुश्मनी का सिलसिला पंद्रह-बीस बरस पीछे तक फैला हुआ हो, लिखना खासा जोखिम भरा और मुश्किल काम है—खासकर तब और जब उस लड़ाई के दौरान ही वह दोस्त अचानक गुजर जाए—यकबयक अनसोचे हुए ढंग से, बिलकुल आपको चरका देकर!

दुष्यंत कुमार के बारे में सोचते हुए आज मुझे यही लगता है। लगता है जैसे मेरे उसके संबंधों की महज दर्जी-घर की असंख्य कतरनों से भरी हुई एक गठरी हो, जिसे ऐलानियां उठाकर मैंने एक दिन एक ओर रख दिया था और जिसे यकबयक खोलते हुए आज मुझे डर लगता है। वह गठरी हैरानी भरी और बौखलाने वाली है। उसमें अनेक रंगों के मखमल हैं, रेशम हैं, खुरदरी-भद्दी कतरनें हैं और है किसी कुरूप कोने पर अटा हुआ कूड़ा भी, जो सामान्यतः अशिष्ट कहा जाता है—एक हद तक अश्लील।

इस बुरे आदमी से मेरी मुलाकात लगभग बीस बरस पहले दिल्ली में हुई थी। तब वह रेडियो में काम करता था और 'सूर्य का स्वागत' का चर्चित कवि था। परोक्ष साहित्यिक परिचय तो था ही, गायबाना आत्मीय परिचय राजेंद्र यादव ने करा रखा था। वह मुलाकात सरसरी तौर की हड़बड़ी से भरी हुई थी, लेकिन यह सिर्फ संयोग नहीं है कि उससे पहली बार मिलते ही उसकी यह कविता मेरे भीतर कौंध गई थी—

रात के घने काले समय में
मेरी हथेली पर
तुमने बनाया है जो सूरज
—मेहंदी से
कहीं सुबह तक रचेगा।
लाल होगा।

आखिर सुबह हुई, मेहंदी रची और वह लाल भी हुई, लेकिन इसमें थोड़ा वक्त लग गया। पहले जब मैं जगदलपुर में रहा करता था तो साल-डेढ़ साल में मुलाकात होती थी, लेकिन ग्वालियर आने के बाद दूरी का वक्फा कम होता गया। सन् 1965

में जब मैं भोपाल आया, तो मेरे लिए भोपाल आना दुष्यंत कुमार के घर आना था। मेरी उसी अनुभूति के तहत कि अकसर शहर एक या दो लोगों के कारण प्रिय या अपना लगता है। आप उन एक या दो लोगों से मिलकर समूचे शहर में रहने का अहसास करते हैं या यह कि एकाध साथ इतना महत्त्वपूर्ण, संतोषदायी और पूरा होता है कि बाकी सब गौण हो जाते हैं। भोपाल के आरंभिक दौर में दुष्यंत कुमार से मिलते-जुलते हुए मुझे लगा। उसकी सूक्ष्म संवेदना वाली काव्य-प्रतिभा से मैं प्रभावित तो था ही, नजदीक आने पर मुझे लगा कि उसके व्यक्तित्व में जबरदस्त सम्मोहन है। यह सम्मोहन उसके पुरुषोचित सौंदर्य, वाक्चातुर्य, बेलौस मस्ती लाउबालीपन और अक्खड़ किस्म की फक्कड़ियत का आकर्षक तालमेल था। वह सिर्फ मिलता नहीं था, मिलने वाले की आंखों को चौंधिया देता था। वह बोलता नहीं था, सुनने वाले के भीतर यकबयक उतरकर जज्ब हो जाता था। यह उस किस्म की जज्बियत थी, जिसका पता व्यक्ति के होते तो नहीं, उसके जाने के बाद तिलमिलाहट की शक्ल में धीरे-धीरे उभरता और आपको देर तक बेचैन करता है।

तब मैं बेहद भीरु, संकोची, आत्मतल्लीन और बहुत सी हीनग्रंथियों का मारा हुआ एक ऐसा युवा लेखक था, जिसकी पूरी की पूरी 'स्टेक्स' साहित्य में हों। मैंने किताबी जीवनियों से एक लेखकीय प्रतिमा उठा रखी थी और उसे आठों पहर हवा में रखकर वही बनना चाहता था। मामूली नौकरी, तंगदस्ती या जिंदगी के छोटे-मोटे कचोकों से निर्लिप्त मैंने अपने आसपास के उस क्रूर यथार्थ से आंखें मूंद रखी थीं, जो दीमक के खोल की तरह मुझ पर चढ़कर धीरे-धीरे मुझे और मेरे परिवार को खाए जा रहा था। कभी-कभी उस क्षय को मैं पहचानता भी था लेकिन शायद भीतर कहीं से उसे एक शहीदाना रंग दे रखा था। यह बात इसलिए भी और दिलचस्प है कि तब मैं ठीक-ठीक यह भी नहीं जानता था कि अपने लेखन से मैं दरअसल क्या चाहता हूं और क्यों?

कोई भी महत्त्वपूर्ण संबंध जब सारी औपचारिकताओं को पार कर मैत्री की दहलीज पर पहुंचता है तो जैसे एक निर्णायक बिंदु पर पहुंचता है। यहीं पर पहली लड़ाई के साथ फैसले होते हैं। आप या तो मित्र बनते हैं या फिर अलग हो जाते है। मैं दुष्यंत कुमार का मित्र बन गया क्योंकि वह बेहद बेमुरव्वत आदमी था और अकसर उनकी बेमुरव्वती की ओट मुहब्बत से छलछलाती हुई एक नदी बहती थी।

मैं आज भी पूरी तरह नहीं जानता कि किसी भी मैत्री के अंतिम मूल में क्या होता है अथवा वह कौन सी बुनियाद है जो दो लोगों को एक-दूसरे का चहेता बना देती है। खासकर तब, जब दोनों के व्यक्तित्व एक-दूसरे के विपरीत और आपस

में काटने वाले हों। फिर जोड़ने वाला पुल क्या होता है? साहित्य? साहित्येतर लाउबालीपन? अखरने वाली सारी अच्छाइयों और बुराइयों के बावजूद एक-दूसरे के व्यक्तित्व में छिपी हुई कोई कौंध? पता नहीं। हां, इस मनःस्थिति को छूने वाली उसकी एक कविता जरूर है—

तुम्हारे साथ
देखते-देखते...
समुद्र पर पुल बन गया है,
ऊंचे गिरि शिखरों तक सड़क
जन-संकुल नगरों से दूर निकल आया हूं।
हाथों में थामे तुम्हारा हाथ!

दुष्यंत कुमार एक अच्छे खाते-पीते घराने का सुविधा-संपन्न आदमी था लेकिन उसके कवि ने असुविधाओं में धकेलकर उसे महत्त्वाकांक्षा से मार दिया। गांव में उसके व्यक्ति को तो सुविधाएं थीं लेकिन कवि को असुविधा। अपनी घरेलू परंपरा से अलग और समानांतर उसने कवि और व्यक्ति दोनों की जिंदगी का एक शहरी स्वप्न-पैटर्न बुन रखा था और सारा वक्त वह उसी के लिए लड़ता रहता था—घर से, समाज से, व्यवस्था से, अपने से, मुझसे। हां, मुझसे भी अकसर—

तेज हवा को रोक
कि ये ठहराव फाड़ दे
शीत घटा
या मन के अंगारे उघाड़ दे
दो खंडों में बांट न
यह व्यक्तित्व अधूरा
ईश्वर मेरे
मुझे कहीं होने दे पूरा।

अथवा

मेरे दोस्त!
मैं तुम्हें खूब जानता हूं।
तुम टी०टी० नगर के एक बंगले में
सुख और सुविधा का जीवन
बिताने की कल्पना किए हो

तुम शासन की कुर्सी पर बैठे हुए
अपने हाथों में मुझे
एक ढेले की तरह लिए हो,
और वर्र के छत्तों में फेंककर मुझे
मुस्करा सकते हो,
मौका देखकर
कभी भी
मेरी पहुंच से बहुत दूर जा सकते हो।

हां, यह सही है। शायद इससे भी ज्यादा सही यह कि उसके कवि और व्यक्ति दोनों ने एक-दूसरे को अपने-अपने हाथ में ढेले की तरह ले रखा था और अकसर बर्र के छत्तों में फेंककर एक-दूसरे की पहुंच से दूर चले जाया करते थे।

आज जबकि वह नहीं है और मैं पीछे लौटकर अपने-उसके संबंधों का जायजा लेता हूं तो लगता है जैसे हम दोनों आरंभ से ही एक-दूसरे के दुश्मन थे, जैसे दोस्ती की बुनियाद में ही दुश्मनी हो। हम दोनों एक-दूसरे को एक-दूसरे से छीन लेना चाहते थे, मानो आपस में चुनौती और प्रतिद्वंद्विता हो।

दुष्यंत कुमार ने जिस लड़ाई को अच्छे और बुरे की कॉन्फ्लिक्ट निरूपित करते हुए उस रात छुट्टी पा ली थी, दरअसल, गंजे वक्तव्य की तरह वह वैसी या उतनी नहीं थी। अपने आसपास की भयावह सचाई और भद्दे यथार्थ से डराकर वह मुझे रियलिस्टिक और दुनियादार आदमी बनाना चाहता था—दोस्ती के नाते! लेकिन उन रास्तों से मुझे वहशत होती थी, चुनांचे मैं अपने ही गढ़े हुए किले में बंद था और नहीं चाहता था कि कोई उसमें आए। बाहर न जाने के मेरे अपने तर्क थे जो दुष्यंत कुमार के सामने मुझे अकसर झूठे लगने लगते थे। मैंने अपनी वैयक्तिक कायरता को छिपाने के लिए लेखन का कवच पहन रखा था, जिसे अवसर पाते ही भेदकर आहत करना दुष्यंत का पहला फर्ज होता था। वह इतना महत्त्वाकांक्षी था कि बिना महत्त्वाकांक्षा वाले दूर के लोग भी उसे मरे हुए लगते थे, फिर मैं तो उसका दोस्त था।

जोड़-तोड़, गुणा-बाकी और हिसाब-किताब में वह माहिर था। और तब मेरा दम घुटता था। नेता-अफसर, अखबारनवीस, मंत्री-संतरी—सभी का उसके नजदीक इस्तेमाल था। कभी अपने लिए, कभी दोस्त के लिए, कभी किसी परिचित के लिए

और कभी यूं ही क्योंकि इससे ग्लैमर-वैल्यू बनती है। एक ओर तो वह पद, अधिकार और प्रभाव चाहता था, दिन-रात उसकी योजनाएं बनाकर तुक-ताल भिड़ाता रहता था; नए से नए दरवाजे और चोर-दरवाजे खटखटाता था तो दूसरी ओर उन्हीं के विरुद्ध कविताएं लिखता और कुछ विशिष्ट मूल्यों के लिए लड़ने वाला जुझारू साहित्यकार था।

अगर नाटक करने से कुछ बात बन जाती है तो इसमें मेरा क्या घटता है? वह कहा करता था—'मैं अपने व्यक्ति और कवि को घर छोड़कर बाहर निकलता हूं और नाटक का एक पात्र बन जाता हूं, इस दोगली समाज व्यवस्था में संघर्ष के लिए।'

संघर्ष यानी तथाकथित सफलता की लड़ाई, जो उसे इस सबके बावजूद आखिर तक नहीं मिली। हालांकि मैं जानता हूं कि मिल जाती तो भी वह उसकी बेचैनी का इलाज नहीं थी। बहुत मुमकिन है कि मिलने के अगले क्षण ही वह बच्चों की तरह उसकी ओर से बिलकुल उदासीन हो जाता, अपनी आंतरिक बेचैनी के धारे को किसी अगले चरण की ओर मोड़ देता और बेपरवाही से कहता—'यार, उसमें कोई दम नहीं था।' जल्दी, बेचैनी, खुलापन, बेलौस मस्ती, बेसब्री और अधैर्यजनित अंतर्द्वंद्व कविता ही नहीं, उसकी जिंदगी का भी मिजाज था।

कुलबुलाती चेतना के लिए सारी सृष्टि निर्जन
और कोई जगह ऐसी नहीं
सपने जहां रख दूं
दृष्टि के पथ में तिमिर है
और हृदय में छटपटाहट
जिंदगी आखिर उठाकर,
कहां रख दूं, कहां फेंकूं।

यह सिर्फ एक कविता नहीं, उसके संपूर्ण कविता-संसार का चारित्रिक बिंब है। या सिर्फ कविता-संसार का ही नहीं, उसकी आंतरिक दुनिया का भी, जिसका पता उसके नजदीक लोगों को भी नहीं था।

ईश्वर पर उसे विश्वास नहीं था, भाग्य को वह मानता नहीं था और सिर्फ अपने पर भरोसा करता था। या तो निराशा, अवसाद व्यर्थताबोध, हताशा आदि का उसके यहां कोई गुजर नहीं था या फिर ये उसके भीतर इतने गहरे थे, जैसे चुनौती बन गए हों। हां, चुनौती जो उसे चारों ओर से लगती रहती थी और उसे जिंदगी दिए हुए थी। कई बार चुनौती नहीं होती तो अपनी ओर से गढ़कर वह उससे लड़ने में जुट

जाता था—चाहे वह समाज से आए, सरकार से आए, दोस्त से आए या किसी सुंदर स्त्री से…।

वह नहीं जानता था कि उसका सामर्थ्य सीमित है या अगर जानता था तो स्वीकार करते हुए उसे शर्म आती थी। दरअसल, उसकी व्यावहारिक-बुद्धि, शक्ति और सामरिक-दृष्टि का जलाशय छोटा था लेकिन इर्द-गिर्द उसने बहुत बड़ी बाड़ लगा रखी थी। बाड़ के खंभों पर पत्रियां चिपकी हुई थीं। ताकि सूरज निकलने पर वे चमकें और यह भ्रम पैदा करें कि जलाशय का जल चमक रहा है…इसी के चलते वह चलता था, लोकप्रिय था, दोस्त बनता था और उनके दुश्मन हो जाने पर उन्हें नेस्तनाबूद कर देने की डींगें हांका करता था।

यह मेरा दुर्भाग्य है कि मेरी-उसकी दोस्ती सही ढंग से शुरू नहीं हुई और गलत ढंग पर खत्म हो गई। अगर वह सही ढंग से आरंभ हुई होती तो बराबरी के स्तर पर जाकर यूं न टूटती। दुर्भाग्यवश, वह हलके संरक्षण भाव से शुरू हुई थी, लिहाजा बराबरी पर आते ही वह दुष्यंत कुमार को चुनौती सी लगने लगी और यकबयक चटख गई। हां, वह टूटी नहीं थी, सिर्फ चटख गई थी क्योंकि कोई भी आत्मीय मैत्री जो बरसों पुरानी हो और जिसमें लड़ाई का मुद्दा अपना-अपना स्वाभिमान ही हो, कभी नहीं टूटती। वह सिर्फ मौके की तलाश करती रहती है—किसी ऐसे मौके की, जो दोनों की खुद्दारी के बंद ढीले कर सके और जरा सा कसाव कम होते ही दोनों एक-दूसरे से लिपट जाएं।

लेकिन दुष्यंत कुमार जल्दी में था और ऐसा मौका कभी नहीं आया। उसकी जिंदगी में हम दोनों डरे हुए थे या शायद मैं उससे कहीं ज्यादा डरा हुआ था। चार्ल्स लैंब को एक बार जब किसी से मिलने लाया जा रहा था तो उसने साफ मना कर दिया था। उसने कहा था—'नहीं-नहीं, मैं उससे नहीं मिलूंगा क्योंकि मैं उससे घृणा करते रहना चाहता हूं…।'

पिछले दिनों मेरी यही कैफियत थी। मैं दुष्यंत कुमार से नफरत करते रहना चाहता था, हालांकि मेरा डर अपनी जगह बराबर बना हुआ था और अंदर ही अंदर मैं जानता था कि कभी भी, किसी भी वक्त वह मौका आ सकता है।

तब क्या होता? वह कसकर गले लगा लेता और भरे हुए कंठ से मुझे गालियां देता—'हरामजादे, कुत्ते…बहुत अकड़ता था।'

दोनों अकड़ते थे, मैं जैसे-तैसे कहता—'लेकिन प्यारे, तुझे तो खुश होना चाहिए। देख, आखिर मैं ही हार गया। देख, जो कुछ तेरी दोस्ती न कर सकी, वह तेरी दुश्मनी ने मुझसे करा लिया है।'

अंतर्कथा

राम सागर सदन

बातचीत में साफगोई और भ्रमरहित बेबाक बयानी दुष्यंत की अपनी विशेषता थी—फिर बातचीत चाहे दोस्तों के साथ हो रही हो, चाहे साहित्यिकों के साथ। यहां दी जा रही अंतर्कथा दुष्यंत के सीधे और प्रत्यक्ष उत्तरों के कारण जहां उनकी जिंदगी की एक साफ तस्वीर पेश करती है, वहीं उनके आंतरिक विचारों को भी उकेरती है।

प्र० : आप प्राचीनकालीन साहित्यों में सबसे अधिक किसे पढ़ते हैं?

उ० : सूरदास तथा तुलसीदास को।

प्र० : आपके लेखन का क्या उद्देश्य होता है?

उ० : केवल आत्माभिव्यक्ति।

प्र० : मैं रचनाएं लिखता हूं और जब वे नहीं छपती हैं, तब मन निराश हो जाता है, क्या करूं?

उ० : लेखक में प्रकाशन की इच्छा स्वाभाविक रूप से होती ही है। अपनी रचनाओं का निर्णायक स्वयं को न माना करें।

प्र० : अगर आपको किसी नौकरी में मदद करने के लिए कहूं तो आप स्वीकार करेंगे?

उ० : कोरे शब्दों की सीपी में विश्वास का पेय पिलाना मुझे अच्छा नहीं लगता है।

प्र० : साहित्यकार कब मर जाता है?

उ० : जब उसकी लेखनी सत्य पर परदा डालने लगती है।

प्र० : आप साहित्य से क्या पाना चाहते हैं?

उ० : कुछ भी नहीं। मुक्तिबोध और निराला को साहित्य ने क्या दिया?

प्र० : साहित्यकारों को जीवन में प्रायः कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसका दोष साहित्य पर मढ़ा जा सकता है?

उ० : नहीं, साहित्य तो निदेशक है, पथ-प्रदर्शक है, निंदक और विध्वंसक नहीं।

प्र० : आप साहित्य के द्वारा कोई ऐसी राह निकाल सकते हैं, जिसके द्वारा जीवन को किसी विरोध का सामना न करना पड़े?

उ० : ऐसा मुझसे संभव नहीं। महाकवि निराला की पंक्तियां याद कीजिए–

धिक् जीवन को
जो सहता ही आया विरोध।

प्र० : सफलता का रहस्य क्या है?

उ० : राम की तरह शक्ति की पूजा कीजिए। और वह राम है, आज का विराट् समय।

प्र० : नई कविता की आप कौन सी परिभाषा स्वीकार करते हैं?

उ० : इसके संबंध में मेरी कोई राय नहीं है। इसके जो दावेदार हों, उन्हीं से यह पूछें।

प्र० : मैं एक स्तरीय पत्रिका प्रकाशित करना चाहता हूं। इसके बारे में आप अपनी राय दें।

उ० : आजकल पत्रिकाओं में विज्ञापन को प्रमुखता देनी पड़ती है। आप जमकर लिखते रहें, पत्रिकाओं में अभी न पड़ना ही श्रेयस्कर है। साहित्यकार ठोस रूप से अपने कर्तव्य को करे तो उसे कोई बाहरी कार्य अच्छा नहीं लगता यों आप जो चाहें, करें।

प्र० : नवोदित साहित्यकार की लेखनी सही दिशा कब प्राप्त करती है?

उ० : उसकी अनुभूति जब सच्ची होती है। कल्पना के रंग को कब तक रखा जा सकता है?

प्र० : जीवन मौत के घेरे में पड़कर भी हंस सकती है?

उ० : हां।

प्र० : मेरा सबसे बड़ा फर्ज?

उ० : ईमानदारी से लिखते चलो। साहित्यिक जीवन में कभी आराम करने की बात मत सोचना।

प्र० : आपकी अंतिम आकांक्षा क्या होगी?

उ० : कुछ नहीं। चाहूंगा कि लोग मेरी रचनाओं में बिखरे भावों को गहराई से समझने की कोशिश करें।

कबिरा खड़ा बजार में, सबकी चाहे खैर।

वह सब कुछ पा लेना चाहता था

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

'उसके दुश्मन बहुत हैं, किसी ने यूं ही उड़ा दिया होगा कि वह मर गया।'

'वह खुद किससे कम है, महाबदमाश है। उसने खुद ही अपने मरने की खबर फैला दी होगी।'

राजधानी में दुष्यंत की मौत की खबर आते ही उसके दो नजदीकी दोस्तों की प्रतिक्रिया मैं सुन रहा था। अखबार के दफ्तर, आकाशवाणी के समाचार विभाग, यू०एन०आई०–सभी जगह स्वयं जाकर पता करने और खबर की पुष्टि हो जाने के बाद भी उनके मुख से निकला–'क्या माया है, कुछ समझ में नहीं आता।'

दुष्यंत बड़ा मायावी था। बहुत कम लोग होते हैं जो इतनी खुली जिंदगी जीते हों और फिर भी 'मायावी' कहाते हों। स्वस्थ, सुंदर, दिलफेंक, जिंदादिल आदमी था वह। उसके दोस्त भी बहुत थे और दुश्मन भी। इस फेहरिस्त को बढ़ाते जाना ही उसकी जिंदगी थी। यदि किसी लड़की के पीछे किसी गैरमोहल्ले में उसके कत्ल किए जाने की खबर आती, या किसी शराबखाने में जहरीली शराब पी जाने से मरने की तो किसी को उतना अचरज नहीं होता। लेकिन दिल के दौरे से उसका मरना बहुत बड़ा मजाक लगता है। उसे न तो दिल का कोई रोग था, न ही कभी कोई इस तरह की शिकायत थी। परेशानियों में अपने को फंसाना फिर बहुत सफाई से उससे निकल जाना, दिल में कोई मलाल न रखना, न कोई बोझ ढोना, अपने दोस्तों में वह सबसे ज्यादा जानता था। वह बीमार आदमी नहीं था। न तन से, न मन से, न आदत से। वह बेहद हंसमुख था। अलमस्त, बेफिक्र, तनाव को गर्द की तरह झाड़ देना वह जानता था। उसे बहुत जल्दी खुश और बहुत जल्दी नाराज किया जा सकता था।

उसकी हवस दुनियादारी की हवस थी। वह सब कुछ पा लेना चाहता था। कभी बच्चों की तरह मचलकर, कभी जूझकर, कभी हिसाब-किताब भिड़ाने के ख्वाब देखकर। जब उसका चाहा नहीं हो पाता तो वह उदास होता। गालियां देता और अपने रास्ते के रोड़ों को नेस्तनाबूद करने के लिए जमीन और आसमान के कुलाबे

मिलाता देखा जाता। पर दुनिया उसके हिसाब से नहीं चलती थी और वह भी बहुत चाहकर भी दुनिया के हिसाब से नहीं चल पाता था। और जितना नहीं चल पाता था, उसी की ताकत से वह लिखता था।

उसने 'सूर्य का स्वागत' से शुरू किया और 'साये में धूप' की शिकायत करते हुए 'चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए,' सचमुच चला गया। हाल ही में मेरी उसकी मुलाकात जम्मू में हुई थी। कोई दो महीने पहले उसका एक खत मिला था। आखिरी खत :

प्रिय सर्वेश्वर भाई,

आदाब!

मैंने अरसे से आपको खत ही नहीं लिखा। हां, कश्मीर से लौटकर एक कविता जरूर लिखी थी—'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाम' जो 'धर्मयुग' 7 जुलाई में छप रही थी पर वह अंक ही नहीं आया। अब भारती कहते हैं कि 'वह छप नहीं सकती।' कहीं और छपाना चाहो तो मैं वापस कर दूंगा, पर सोच लो···।

इस बीच बहुत सारी गजलें जरूर कही हैं पर वे भी दराज में भरता जा रहा हूं। कुछ एब्स्ट्रेक्ट किस्म की होती जा रही हैं गजलें भी—क्योंकि···

आज हालात समंदर की तरह लगते हैं
सारे मंजर पसे मंजर की तरह लगते हैं।

किसके कदमों के निशानात हैं इन राहों में
जो मेरे पांवों में ठोकर की तरह लगते हैं।

जान-पहचान है रिश्ते नहीं बाकी घर में
घर किराये पे लिए घर की तरह लगते हैं।

आपसे तय था कि गजलों की किताब पर आप लिखेंगे। वैसे इन हालात में किताब पर बहुत बेबाकी से तो चर्चा नहीं हो सकती पर इसलिए चर्चा भी न हो, यह भी तो कोई बात नहीं।

आपका
दुष्यंत

खत को पढ़कर जम्मू की कुछ यादें ताजा हो आईं, हम एक पहाड़ी पर बने ऊंचे मंदिर तक गए और वापस आए। वह तमाम रास्ते अपनी गजलें सुनाता रहा। रास्ता खत्म हो गया, पर गजलें खत्म नहीं हुईं। उन गजलों की पांडुलिपि उसने

'राधाकृष्ण प्रकाशन' को दे रखी थी, जहां से बाद में वह छपीं। इन गजलों से ज्यादा मुझे उसका अपनी गजलों में इस कदर डूबा होना पसंद आया। एक जुनून, एक ऐसी तन्मयता जो अब कविता के रोजगार में देखने में नहीं आती है। हां, रोजगार ही, कविता अब रोजगार ही बनती जा रही है। जिन सम्मेलनी कवियों के साथ वह था, उन्हें देखकर यही लगता था, उसने यह रोजगार नहीं किया।

'सूर्य का स्वागत' उसका प्रथम काव्य-संग्रह है जो 1957 में छपा था और इस संग्रह के बल पर उसने वह स्थान बना लिया था जो अपने प्रथम संग्रह से बहुत कम लोग बना पाते हैं। संग्रह की अंतिम कविता याद आ रही है—

आंगन में कोई है,
दीवारें चिकनी हैं, काली हैं,
धूप से चढ़ा नहीं जाता है,
ओ भाई सूरज! मैं क्या करूं?
मेरा नसीबा ही ऐसा है!
खुली हुई खिड़की देखकर
तुम तो चले आए,
पर मैं अंधेरे का आदी,
अकर्मण्य···निराश···
तुम्हारे आने का खो चुका था विश्वास!
पर तुम आए हो—स्वागत है!
स्वागत!···घर की इन काली दीवारों पर!
और कहां?
हां, मेरे बच्चे ने
खेल-खेल में ही यहां काई खुरच दी थी
आओ—यहां बैठो,
और मुझे मेरे अभद्र सत्कार के लिए क्षमा करो।
देखो! मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत करना सीख रहा है।

उसके बाद उसकी अनेक किताबें आईं—'आवाजों के घेरे' (कविता), 'जलते हुए वन का वसंत' (कविता), 'एक कंठ विषपायी' (नाटक), 'छोटे-छोटे सवाल' (उपन्यास), 'आंगन में एक वृक्ष' (उपन्यास), 'दुहरी जिंदगी' (उपन्यास), 'मन के

कोण' (एकांकी) और 'मसीहा मर गया' (नाटक)। उसके अनुसार उसने 'कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें, कुछ फालतू उपन्यास तथा महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद भी किया है।'

'साये में धूप' उसका अंतिम काव्य-संग्रह है जो 1975 में छपा। इस संग्रह तक आते-आते दीवारों की काई और साफ हुई। पहचान में आने लगी। और जो लिखा, उसे आवाज देने में समय लगेगा।

वह वर्तमान की पीड़ा समझता था। उसे आने वाले दिनों पर आस्था थी। हंसता रहता और जहर पीता रहता। वह जानता था इनसान को तोड़ने वाली शक्ति कौन सी है। वह अपना सब कुछ निछावर कर देना भी चाहता था। और अंतिम दिनों में कवि के रूप में सड़क पर आकर निहाल हो गया था।

मेरी ज़ुबान से निकली तो सिर्फ़ नज़्म बनी,
तुम्हारे हाथ में आई तो एक मशाल हुई।

उस हाथ की उसे प्रतीक्षा थी। जब भी वह हाथ दिखेगा निश्चय ही उसकी गजलों के अनेक टुकड़ों की दमकती मशाल उस हाथ में होगी।

दुष्यंत पर यकीन नहीं किया जा सकता था। वह झूठ बोलता था। अकसर किसी से पिंड छुड़ाने के लिए। उसका 'अभी आ रहा हूं' का मतलब न आना था। उसके दोस्त यह जानते थे कि वह, यह 'अभी आ रहा हूं' का वाक्य केवल दिलासा देने के लिए कह रहा है। कमबख्त आएगा नहीं। इससे ज्यादा झूठ क्या हो सकता है कि लिखा है—

हां! जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूंगा मैं
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूंगा मैं!

और उसने देह छोड़ दिया। गोया कि पिंजड़े की सलाखें मोड़ देने का काम उसका पूरा हो गया हो।

इस झूठे आदमी का पूरा नाम दुष्यंत कुमार त्यागी था। जन्म 1 सितंबर, 1933 को उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के राजपुर-नवादा में हुआ था। अकसर दिल्ली से होकर गुजरता था, आता और कहता—

'अभी जल्दी में हूं सर्वेश्वर भाई!'

'पर जा कहां रहे हो?'

'गांव जा रहा हूं। आप तो जानते हो खेती-बाड़ी का भी चक्कर चलाता हूं। लौटती बार आऊंगा फिर जम के बैठूंगा। इधर मैंने बहुत लिखा है। आपको सुनाना है।'

लेकिन लौटती बार वह कभी नहीं आया। जमकर बैठना कभी नहीं हुआ। और अब उस झूठ पर कभी मेरा मुस्कराना नहीं हो सकेगा। हाल में ही उसकी नई पुस्तक 'साये में धूप' की समीक्षा करते हुए मैंने उसे गजलें कम लिखने की सलाह दी थी। लेकिन क्या पता था कि वह ऐसी स्थिति पैदा कर देगा कि अब वैसी गजलें फिर नहीं लिखी जाएंगी। मैं उसकी काव्य-क्षमता से परिचित था, लेकिन उसकी लापरवाही और वाहवाही में बह जाने की कमजोरी भी जानता था। यदि वह बहने पर आमादा रहता लेकिन रहता तो मैं क्या कुछ कहता! मैं जानता था कि वह अगली बार आकर गले लगकर शिकायत करेगा और यह भी कहेगा—'सर्वेश्वर भाई, आपको पता नहीं है मैंने इधर बहुत सी और कविताएं भी लिखी हैं। लौटकर आऊंगा तो सुनाऊंगा,' मैं तब उसके लौटकर आने की प्रतीक्षा नहीं करता पर आज जाने क्यों कर रहा हूं! उसे मरना नहीं चाहिए था।

दुष्यंत : एक सख्त पहाड़ी चट्टान

बलभद्र प्रसाद तिवारी

उसके हाथ की लिखी हुई पचासों चिटें मेरे सामने टेबल पर आज भी बिखरी हुई हैं। गजलों के चंद अशआर और कविता की पंक्तियां। दिमाग के एक हिस्से पर उसने इस तरह कब्जा जमा लिया है जिस तरह कोई शिकमी किसान किसी का खेत जोतते-जोतते मौरूसी बन बैठता है। और अब मन के बड़े कोने तथा दिमाग की एक लंबी-चौड़ी कोठरी का पट्टा दुष्यंत के नाम ही लिख दिया गया है।

कहां 'धर्मयुग,' 'सारिका' और 'हिंदुस्तान' का लोकप्रिय लेखक दुष्यंत और कहां मैं—एक छोटे से साप्ताहिक का संपादक। लेकिन फिर भी कुछ ऐसे अंतरंग संबंध जिन पर मुझे इतना जबरदस्त नाज और गुमान है कि बड़ों-बड़ों की सलाम लेने की तबीयत नहीं होती। दुष्यंत का दोस्त। उफ, सचमुच कितनी बड़ी बात है।

बात भी कुछ ऐसे ही शुरू हुई थी। किसी तत्कालीन घटना पर 'प्रजामित्र' में संपादकीय लेख प्रकाशित हुआ और दूसरे ही दिन पहले तो दरवाजे पर कार की भोंडी भर्राहट सुनाई दी और फिर एक-दो मिनट के बाद ही एक निहायत ही खूबसूरत चेहरा—वाह, पंडित जी, वाह! कमाल कर दिया, एक-एक सेंटेंस पढ़ने लायक है।. मैं तो अब तक इसी हैरत में था कि किसी भी अखबार में इस पर कुछ क्यों नहीं लिखा गया—और बात धीरे-धीरे बढ़ती गई। किसी खास खबर या लेख के प्रकाशित होने पर 'प्रजामित्र' का अंक कई दिनों तक दुष्यंत के हाथ में रहता और मैं समझ सका कि वह लेखन के महत्त्व को किस हद तक स्वीकार करता था। छोटा या बड़ा, कैसा भी मामला क्यों न हो, यदि वह आम आदमी से किसी भी तरह जुड़ा हुआ है तो उस पर लिखने या लिखे जाने की बेचैनी दुष्यंत के मन को तड़पा देती थी। वह प्रायः कहता—'पंडित जी, आप जानते नहीं, इस सवाल से कितने लोगों की जिंदगी जुड़ी है। इस पर लिखना चाहिए।'

दुष्यंत के साहित्य और लेखन के संबंध में चर्चा करना यहां मेरा उद्देश्य नहीं। यह विषय कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, धर्मवीर भारती, राजेंद्र यादव, मार्कंडेय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे साहित्य महारथियों के लिए छोड़ देना ही ज्यादा मौजूं

है। मुझे पहले भी इस बात का डर लगता रहा है कि उसकी साहित्य की ऊंचाई में कहीं उसके व्यक्ति की ऊंचाई गुम न हो जाए। इतने खुले आदमी मैंने अपनी जिंदगी में कई देखे हैं। बात दो की है। एक स्वयं मैं और दूसरा दुष्यंत। कितने भी कोट-पैंट, कुर्ता-पायजामा पहने, फिर भी सबके सामने चौराहे पर हमेशा नंगे खड़े दुष्यंत की शरारतों और शैतानियों का जिक्र आज इतना अधिक किया जाता है मानो उसमें कोई भलमनसाहत रही ही न हो। मैं इसे किसी भी सूरत में मंजूर नहीं क़रता। और अगर कोई करता भी है तो मैं यही कहूंगा कि दुष्यंती शरारत और शैतानियों की आज के जमाने में सख्त जरूरत है। एक जमाना था जब पाखंड और आडंबर केवल धर्म के क्षेत्र में फैला था मगर आज साहित्य, संस्कृति, कला, राजनीति और जनसेवा के प्रायः सभी क्षेत्रों में पाखंड और आडंबर की हुकूमत है। दुष्यंत ने इन पाखंडियों के मुखौटे उतारकर समाज के सामने उसको नंगा करने में कभी संकोच नहीं किया। भरे चौराहे पर आपके मुखौटे को झटककर फेंक देना, उसकी आदत रही है।

साहित्य सेवा का साइन बोर्ड लगाकर दूसरे मामलों की दुकानदारी से दुष्यंत को नफरत रही है। नेमिचंद अथवा हबीब तनवीर से उसने कभी इस गरज से दोस्ती नहीं की कि उनके जरिए दिल्ली में अपनी दुकान जमाई जा सके। भूखे और अधनंगे लोगों के साथ आत्मिक सहानुभूति और जबरदस्त हमदर्दी होने पर भी उसने किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध होने का कोई ढिंढोरा नहीं पीटा। किसी पुरस्कार-योजना अथवा सम्मान-समारोह के जरिए अपने लिए 'पहुंच' का रास्ता उसने कभी नहीं पाया। इसके विपरीत इस तरह के साइन बोर्डों पर वह हमेशा तारकोल ही पोतता रहा है। मध्य प्रदेश के राज्यपाल बाबू सत्यनारायण सिंह पर जब उसने लेख लिखे, तब कुछ लोगों ने उंगलियां उठाईं थीं मगर तब भी दुष्यंत ने दबंगी के साथ कहा था—'मैं व्यक्तित्व की गरिमा और उसकी ऊंचाई को स्वीकार करता हूं। अगर दूसरों की तरह नाजायज फायदा उठाने की मेरी मंशा रही होती तो मैं सबसे पहले ऐसे व्यक्तियों पर लेख या कविताएं लिखता जिनसे सीधे फायदे की उम्मीद की जा सकती है।' आदमी को नापने का आचरण चरित्र, व्यवहार, कृतित्व, विचार आदि का उसका पैमाना अजीब ही था।

अपने इस नंगेपन के कारण दुष्यंत को जिस परिवेश में जीना पड़ा है, वह साहित्य और इनसानी जिंदगी की एक बड़ी दुर्घटना ही मानी जाएगी। यहां मैं आए-दिन ऐसे लोगों को देखता हूं, जो 'धर्मयुग', 'सारिका' या 'हिंदुस्तान' में अपनी एक रचना के प्रकाशित होने पर सीधे मुंह बात नहीं करते। मगर दुष्यंत को छोटे अनजाने नौसिखिया लोग घेरे ही रहते थे। और वह भी 'हां यार, यह तुमने बड़ा बढ़िया लिखा।

इसे 'प्रजामित्र' में छपने के लिए दे दो। हां-हां, तुम मेरी सलाह मानो। हमें अपनी बात आम आदमी तक पहुंचाना है।' और दिन में कई बार मुझे टेलीफोन पर सुनाई देता रहा है—'पंडित जी, मैं दुष्यंत बोल रहा हूं। मैं फलां-फलां की रचना भेज रहा हूं, बड़ा अच्छा लिखते हैं। इसको जरूर छापिएगा। वह सचमुच एक ऐसा काजी रहा है, जो शहर के अंदेशे से हमेशा परेशान रहता है।'

दवा से लेकर दारू तक के संबंधों में दुष्यंत का व्यवहार सबसे अलग रहा है। जरा सा संबंध जुड़ने पर वह सीधा दनदनाता हुआ आपके चौके-चूल्हे तक घुस जाता और घर-मालिक से लेकर घर में पले हुए कुत्ते-बिल्ली तक की खैरियत पूछता। आपके बारे में कैसी भी, कुछ भी समस्या हो, वह फौरन आपसे कहता—'अच्छा, आप बेफिकिर रहिए, मैं अभी फलां के पास जाकर यह कहता हूं। और उसका स्कूटर तब तक दौड़ता ही रहता, जब तक वह काम पूरा नहीं हो जाता।' जरूरत पड़ने पर दिल्ली-बंबई तक की दौड़ लगा देता और लौटकर अपनी लटें संभालता हुआ चैन की सांस लेकर कहता—'आखिर उनको मेरी बात माननी पड़ी। मैंने कहा कि आपको परेशान करने की गरज से जबरदस्ती का षड्यंत्र रचा गया है। मैंने जब सब राज खोला तो जनाब, वह लोग हैरत में रह गए।' और फिर एक ठहाके के साथ कहता—'चलो हटो यार, दारू पी जाए।'

दूसरों की तकलीफ उसको इस हद तक कचोटती रही है कि खुद अपनी तकलीफों के बारे में सोचने-विचारने की उसे फुरसत ही नहीं मिली। भोपाल में वह रेडियो की नौकरी पर आया था। भाषा विभाग के अधिकारियों के लिए जब 'सेलेक्शन' हुआ, तब उसे सहायक संचालक के पद के लिए चुना गया और उप-संचालक का पद दूसरों को दे दिया गया। सब लोग मातम मनाते रह गए, मगर दुष्यंत की जुबान पर वही दुष्यंती फिकरा—'अरे हटो यार, सब साले हरामी हैं। चलो, दारू पी जाए।' अबे सुन यार, 'एक नई कविता लिखी गई है, उसे सुन।'

दुष्यंत यदि चाहता तो अपनी साहित्यिक प्रतिभा को सरकार के किसी भी खजाने से कभी भी भुना सकता था। मगर उसने कभी ऐसा नहीं किया। एक बार उसका अपने विभाग के मंत्री के साथ जबरदस्त झगड़ा हो गया और उसे सस्पेंड भी कर दिया गया। जब उससे उसके खिलाफ लगाए गए आरोपों का जवाब मांगा गया तो अपने जवाब में उसने मंत्री महोदय को खुल्लमखुल्ला ऐसी खरी-खरी लिखकर सुनाई कि वह अपनी बगलें झांकते ही रह गए। किसी सस्पेंडेड कर्मचारी के द्वारा अपने जवाब में उलटे मंत्री पर इतने जबरदस्त आरोप लगाना नौकरी के इतिहास की एक घटना है।

इसी तरह एक बार वह अपने सचिव महोदय से टकरा गया। सचिव ऐसी उलझन में फंस गए कि उन्हें स्वयं दुष्यंत से बात कर समझौते की बात चलाने के लिए मजबूर होना पड़ा। उसने साफ कहा—'जी हां, यह सच है कि आपके खिलाफ यह कैंपेन मैंने ही चलाया है। अभी थोड़ा यह और चलेगा।' जब सचिव ने बंद करने को कहा, तब भी उसने जवाब दिया था—'नहीं, सरकारी क्षेत्र में यह घटियापन जब तक खत्म नहीं होता, तब तक मैं भी खामोश कैसे रहूं।' और अंत में जब सचिव ने नौकरी की बात चलाकर दुष्यंत को धमकाना चाहा तो फिर उसने उसी शान से कहा था—'हि, हिहि'''आपकी यह बात बेमानी है। जितनी तनख्वाह आप मुझे देते हैं, उससे तो मेरा दारू का खर्च भी पूरा नहीं होता। आप जानते नहीं, मैं आपकी या किसी की नौकरी नहीं करता। मैं सिर्फ अपनी कलम की नौकरी करता हूं और जब तक मैं कलम की नौकरी में हूं, तब तक मुझे किसी की परवाह नहीं।'

मैं आज साफ लफ्जों में कह सकता हूं कि दुष्यंत सख्त पहाड़ी चट्टान पर हरियाते रहने वाला सायादार दरख्त था। उसके नीचे थके-मांदे आदमियों ने विश्राम किया, उसके फल और फूल तोड़कर देवताओं को प्रसन्न किया, उसकी शाखों पर झूला डालकर झूलते रहे, गायों, भैसों, बकरियों के लिए पत्तियां तोड़ी और मौका पड़ने पर ईंधन के लिए उसकी डालियां भी काटीं। मगर किसी ने भी उसे एक लोटा पानी नहीं दिया। दुर्योधनी साजिश के महारथी उसे हमेशा ही किसी व्यूह में फंसाने की योजनाएं बनाते रहे हैं। जिस दुष्यंत पर मध्य प्रदेश ही नहीं, हिंदी जगत् को नाज रहा है, उसके खिलाफ इस तरह घिनौनी हरकतें कि माथा शर्म से झुक जाता है। यह सच है कि मौत सबकी आती है, मगर दुष्यंत की मौत का पैगाम यमदूतों की बजाय कुछ ऐसे लोग लाए थे, जो उसकी ऊंचाई के सामने अपने बौनेपन को बर्दाश्त नहीं कर सके।

खैर, यह बड़ी बातें हैं। अभी तो मैं केवल यही कामना करता हूं कि ईश्वर करे, अब कोई और दुष्यंत न मरने पाए।

दीवार की काई और सूर्य का स्वागत

धर्मवीर भारती

'निकष' के पुराने अंक कहीं मिलें तो दूसरा अंक निकालिए। बिलकुल प्रारंभ में पृष्ठ तीन पर एक कविता मिलेगी—'सूर्य का स्वागत'। सुबह के सूरज की धूप खिड़की से घर में आई है पर दीवारों पर काई है, सीलन है, फिसलन है, सूरज से दीवारों पर चढ़ा नहीं जाता। कवि सूरज के आने का विश्वास खो चुका था, पर अब सूरज आ ही गया है तो उसका स्वागत है पर कहां?

और कहां?
हां—मेरे बच्चे ने खेल-खेल में ही
यहां काई खुरच दी थी—
आओ यहां बैठो
और मुझे मेरे अभद्र सत्कार के लिए क्षमा करो!
देखो मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत कर रहा है!

और अब कवि का नाम पढ़िए। नाम है—दुष्यंत कुमार। यह रचना है सन् 1955 की। आज से 21 बरस पहले।

इक्कीस बरस पहले गंगाजल, दोस्तियों, छायादार लंबी सड़कों, कविताओं, धूप-धुले फूलों, बहस-मुबाहसों, साइकिलों पर चक्कर लगाते छात्र-कवियों और बेलौस गपबाजियों और महकती फिजाओं का एक शहर हुआ करता था। 'था' इसलिए लिख रहा हूं कि शहर अब भी है पर वह नहीं है जो हुआ करता था। परिमल उस समय छाया हुआ था। 'निकष' और 'नई कविता' ने धूम मचा रखी थी। पर उस परिमल मंडली के अलावा एक नया लेखक वर्ग क्षितिज पर उग रहा था—अजित, ओंकार, मार्कंडेय, जितेंद्र, कमलेश्वर, दुष्यंत। तब तक यह नहीं हुआ था कि सैद्धांतिक मतभेदों के कारण किसी का कृतित्व नकारा जाए या व्यक्तिगत

कीचड़-उछाल में मुब्तिला हुआ जाए। लोग अपनी श्रेष्ठता, उत्कृष्ट रचनाओं के द्वारा स्थापित करने के आकांक्षी थे। और सबसे प्यारी बात यह थी कि सारे जोरदार बहस-मुबाहसों के बीच एक आत्मीयता भरे परिहास की, निर्दोष, प्यारी-प्यारी शरारतों की बारीक अंतर्धारा जिंदगी और साहित्य में एक ताजगी बनाए रखती थी। और बिलकुल धर्मयुद्ध की भावना से दोनों पक्षों के शरारतबाज एक-दूसरे को, शरारत करने के बाद, अपनी उपलब्धियां बताते थे और विपक्षी मित्र से शाबासी हासिल करते थे।

और ऐसे ही एक शरारतबाज को सिविल लाइंस से रिक्शे पर लौटते हुए दूसरा शरारतबाज दिखा। उसने तुरंत अपनी साइकिल मोड़ी और पास आकर कहा—'छोड़िए रिक्शा। आइए, अपने कमरे पर ले चलूं, कुछ बड़ी मजेदार घटना बतानी है। सुविधा के लिए नाम रख लेते हैं 'क' और 'ख'।' 'क' रिक्शे से उतर पड़ा। 'ख' की साइकिल के पीछे बैठा। साइकिल एक पुराने बंगले के अहाते में मुड़ी और बाहर के एक लंबे से कमरे के सामने रुकी। दोनों उतरे। 'ख' ने कहा—'यह है मेरा कमरा। तीन महीने से किराया नहीं दिया है।' क्यों? पूछने पर बताया कि तीन महीने से कविताएं लिख रहा हूं और ऐसी कि आप सब परिमल वाले पीछे छूट जाएंगे।

वह लंबा-सा, पलस्तर उखड़ा कमरा, खिड़कियों पर चढ़ी बेलें, एक तरफ जमीन पर बिछी दरी और तकिया, एक तरफ दीवार से लगे कुछ बक्से और किताबों की छोटी अलमारी। एक ओर खाना पकाने का स्टोव और अनाज-मसालों के डिब्बे। 'ख' ने चाय चढ़ाई और 'क' एक चद्दर तहाकर पीठ पीछे का ढासना बनाकर संदूक से टिककर आराम से बैठ गया—'हां, अब बताओ, सुबह-सुबह क्या हरकत की?'

'हरकत?' 'ख' एक उजली-बेबाक हंसी बिखेरते हुए बोला—'आज सुबह आपके परिमल के एक बड़े मूजी का शिकार कर डाला। साला अपने को बड़ा आलोचक, बड़ा विद्वान् मानता है, मगर उलटे छुरे से मूड़ दिया और उसे पता भी नहीं चला।' और फिर 'ख' ने बताया कि कैसे वह उस विद्वान् आलोचक के सामने कॉफीहाउस में हाथ जोड़कर 'छमहु नाथ अपराध हमारे' की मुद्रा में बैठ गया। विद्वान् ने पुलकित होकर उसे तथास्तु कहा, उसके कमरे पर आया और यह मानकर कि 'ख' का अब हृदय-परिवर्तन हो गया है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, दो घंटे तक कविताएं सुनीं।

'यार, पर यह सब किया क्यों?' 'क' ने पूछा।

'देखिए, वह आपकी तरह मस्तमौला तो है नहीं। बड़ा खुन्नसबाज है। दो घंटे तक कविताएं भी सुनीं और निश्चिंत होकर गया कि परिमल में मैं अब शामिल ही हो जाऊंगा। परसों जब फिर मैं परिमल की बखिया उधेड़ूंगा तो उसकी पिटी हुई सूरत

देखने काबिल होगी।' 'ख' ने चाय का प्याला सामने रखते हुए कहा।

'क', जो परिमल का सदस्य था, ठठाकर हंसा और फिर चाय और कविताओं का दौर चलने लगा और जो कविता उस दिन छा गई, वह थी 'सूर्य का स्वागत'।

पाठको! आप समझ ही गए होंगे कि 'ख' थे दुष्यंत कुमार और 'क' थे भारती। चलते समय भारती 'सूर्य का स्वागत' जेब में रखकर ले आए और 'निकष' में वह कविता बड़ी शान से छपी।

वह पहला दिन था, आज से 21 वर्ष पहले जब उसके कमरे पर दुष्यंत से परिचय की सीमा लांघकर दोस्ती जुड़ी थी। गोरे, हरदम शरारती मुस्कान से आलोकित चेहरे पर बार-बार माथे पर झूलने वाली एक लट, हरदम बेचैन, हरदम सक्रिय, जरा-जरा सी बात में चुनौती स्वीकारने वाला और जरा से प्यार में पिघलकर आर्द्र हो उठने वाला दुष्यंत एक ऐसा दोस्त था, जिस पर कुछ मामलों में आप आंख मूंदकर भरोसा कर सकते थे पर कुछ मामलों में क्या करेगा, क्या कहेगा, इसका कोई भरोसा नहीं रहता था। हमारी दोस्ती में बेबाकी तो थी लेकिन चूंकि उम्र में मैं कुछ बड़ा था, अतः आदरपूर्ण संभ्रम की मर्यादा भी दुष्यंत ने सदा निबाही। हम सबों में अकेला दुष्यंत था जो इलाहाबाद में जब पढ़ने गया, उसके पहले ही पति और पिता बन चुका था। पढ़ते हुए आजीविका कमाने की समस्या लगभग हम सबों के सामने रही, पर परिवार साथ होने के कारण दुष्यंत के सामने कुछ अधिक भी थी—लेकिन कमाल यह था कि निश्चिंतता और मस्ती जितनी दुष्यंत में थी उतनी हममें से किसी में नहीं।

उसकी पहली कविता-पुस्तक 'सूर्य का स्वागत' छपी। चर्चा हुई और उसके बाद फिर दुष्यंत एक लंबी चुप्पी लगा गया। बीच में वह भटकता रहा। इलाहाबाद से लखनऊ, लखनऊ से दिल्ली। कभी यह नौकरी की, कभी वह नौकरी छोड़ी और बीच-बीच में नौकरी करने और छोड़ने की दिलचस्प रवायतें।

'अंधा युग' न सिर्फ उसे पसंद आया बल्कि उसने मुझे लिखा कि वह भी एक जोरदार काव्य-नाटक लिख रहा है, संभल जाइए। और फिर आया 'एक कंठ विषपायी'।

फिर चर्चा हुई और फिर दुष्यंत डुबकी लगा गया। इलाहाबाद का अड्डा उजड़ने लगा था। सर्वेश्वर, कमलेश्वर, दुष्यंत और माचवे दिल्ली चले गए। मैं बंबई चला आया और दुष्यंत का खत कभी साल-छह महीने में एक बार आता। निश्छल परिहास अब जहरीले डंकों और कुंठित आक्रमणों में बदलने लगे थे, उन्होंने अपनी उस प्यारी नगरी को उदास और निष्प्राण बनाना शुरू कर दिया था। जो परिमल

कभी गर्व से अपने को 'परिवार' कहता था, वह महाभारतोत्तर यादव वंश का प्रतिरूप बन गया था और बड़े गर्व से 'हम तीन दोस्त' जो कविता दुष्यंत ने लिखी थी उसकी विश्वसनीयता खंडित होने लगी थी। इधर कमलेश्वर बंबई आए और उधर दुष्यंत भोपाल जा बसे। दुष्यंत का लिखना-पढ़ना विरल। भोपाल से जो किस्से बंबई पहुंचते थे, नमक-मिर्च लगाकर, उनसे कभी-कभी आशंका होती थी कि वहां के कुछ चग्घाड़ कैरियरवाज, अहंनिष्ठ, फाइलशाह साहित्यिकों को दुष्यंत कहीं अपना दुश्मन न बना बैठे। खबरें पहुंचती थीं कि मन उसके लिए चिंतित हो उठता था। और दुष्यंत था कि खामोश, न चिट्ठी, न पत्री।

और कई साल पहले, एक दिन सुबह अकस्मात् फ्लैट की घंटी बजी। दरवाजा खुला, तो देखा महावीर अधिकारी जी के साथ अपना दुष्यंत। आते ही गले से लग गया। मालूम हुआ कल रात से आया है। अधिकारी जी के पास टिका है। सुबह होते···

'अरे, सुबह से साला नाक में दम किए है। चलो भारती के यहां, चलो भारती के यहां। मैंने तेरे खिलाफ बहुत भड़काया इसको, मगर इसकी यही रट।' अधिकारी जी बात काटकर बोले और सिर थामे सोफे पर बैठकर बोले—'पुष्पा, जरा एक एस्प्रो की टिकिया ला और चाय पिला। सिर में दर्द हो गया आज।'

'शाबास दुष्यंत, आओ फिर गले से लगा लें।' मैंने कहा, वह फिर गले लगा, मगर पूछा—आखिर क्यों? 'भाई, रोज गुरुजी (अधिकारी जी) के कारण हम सबके सिर में दर्द होता है। तुमने आते ही इनके सिर में दर्द पैदा कर दिया, चमत्कार है!'

दुष्यंत ठठाकर हंसा। अधिकारी जी मुस्कराए, फिर दफ्तर गोल और बैठकर जो दुष्यंत से बातें शुरू हुई कि एक बार वह गंगाजल, दोस्तियों और कविताओं का इलाहाबाद लौट आया। बरसों-बरसों बाद।

कमलेश्वर कभी इस कॉन्फ्रेंस, कभी उस सेमिनार में जा-जाकर अपने को क्यों थकाते रहते हैं, यह मेरी समझ में कभी नहीं आया। उन पर जो आत्मीयता का हक है, उस नाते कई बार मैंने पूछा कि इस सबसे आखिर क्या हासिल होता है?

लेकिन उस बार कमलेश्वर लौटे (शायद उज्जैन से) तो सचमुच कुछ हासिल हुआ था··· दुष्यंत की नई गजलें वह साथ लाए थे। *वही यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है, चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए।* दफ्तर में ही पढ़ी और वे पंक्तियां दिलो-दिमाग पर छा गईं। तीसरे या चौथे दिन दुष्यंत का खत आया—कमलेश्वर से लेकर आपने गजलें पढ़ ली होंगी। पूरी प्रतिलिपि फिर भेज रहा हूं, लौटती डाक से

लिखिए कैसी लगीं?

और फिर जो धुआंधार गजलें 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' से लेकर 'प्रतीक', 'कल्पना' तक में छपीं और जो धूम उनकी मची वह आप जानते ही हैं।

आखिर क्या था उन गजलों में, जो इस तरह इतनी गइराई में झकझोर गया। उनकी मंजी हुई जबान, कसे हुए छंद, बंकिम भंगिमा, नया तेवर, कसी हुई अभिव्यक्ति? यह सब तो था ही, पर सबसे बड़ी बात यह थी कि वे एक ऐसे आदमी की प्रामाणिक पीड़ा भरी आवाज थीं, जो अपने इस मुल्क को, अपनी इस दुनिया को बेहद प्यार करता रहा है। जो इसके बेहतर सपनों और उजले भविष्य के प्रति अखंड आस्थावान रहा है। भविष्य के सपनों में जी-जान से जिया है; जिसने देखा है बेबसी और लाचारी से एक-एक कर उन सपनों को बिखरते हुए और उसका दर्द पूरी शिद्दत से महसूस करते हुए। उसने चिर-परिचित बिंबों को एक नए संदर्भ में पुनर्जीवित कर दिया; लेकिन न तो उसने छद्म आशावाद में पलायन किया और न एक बेईमान किस्म की झूठी शब्दाडंबरमयी आक्रामकता में। सुविधाओं और पद-प्रतिष्ठा से लैस चंद आलोचक एक झूठा मुखौटा लगाकर एक बने-बनाए पूर्वाग्रह के साथ, जो एक नकली विद्रोही साहित्य-चिंतन और उससे उद्भूत तीसरे दर्जे का घटिया काव्यजाल पाठकों पर थोप रहे थे, उस कृत्रिम काव्य-संसार में एक प्रामाणिक दर्द भरी आवाज थी इन गजलों की, जो बिना किसी आलोचक की शब्दाडंबरी वकालत के, पाठक को व्यापक स्तर पर छू गई। एक सच्ची और तीखी अकेली छूटी हुई रचना, झूठे शब्दजाल के विराट् काव्याडंबर को कैसे पल भर में नकली और जाली साबित कर अपने को प्रतिष्ठित कर लेती है, इसका प्रमाण दुष्यंत की गजलें हैं। खुरदरे कागज पर रंग-बिरंगी पुस्तकमालाएं छापकर, अपने गुट को रेवड़ियां बांट-बांटकर, एक मिथ्या काव्यधारा को पाठक के गले मढ़कर वाहवाही लूटने की कोशिश करने वाले चंद परस्पर प्रशंसालिप्त यशःकामी, साहित्यिक नेतागीरी के आकांक्षी लोग दुष्यंत की उस अकेली उपलब्धि के समक्ष कितने बौने, कितने दयनीय और कितने हास्यास्पद साबित हुए!

अजीब किस्म की वह दुनिया हो चली थी जिसे दुष्यंत बड़ी अंतरंगता से, बड़ी बारीकी से और बहुत नजदीक से देख रहा था। उसके सारे अंतर्विरोध, उसका सारा भोंडापन, उसकी सारी क्रूर विषमताएं, चाहे जितने शब्दजाल से ढक दिए जाने की कोशिश हो, लेकिन कवि उस चादर के पार अंदरूनी असलियत देखता है और आहिस्ता से बड़े व्यंजनापूर्ण ढंग से कहने में चूकता नहीं···

यहां तो सिर्फ गूंगे और बहरे लोग बसते हैं,
खुदा जाने यहां पर किस तरह जलसा हुआ होगा।

अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,
ये कमल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।

कभी कश्ती, कभी बत्तख, कभी जल
सियासत के कई चोले हुए हैं।

इस शहर में वो कोई बरात हो या वारदात
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं हैं खिड़कियां।

दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।

हो गई हर घाट पर पूरी व्यवस्था
शौक से डूबे जिसे भी डूबना है।

अब किसी को भी नजर आती नहीं कोई दरार
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तहार।

और खास ताकत इस कविता की यह है कि यह विरोध के नाम पर पनपने वाली उस दुर्दांत नकारात्मक अहम्मन्यता की कविता नहीं है जो भविष्य के नाम पर भविष्य को धूमिल बनाती है और समाज में व्याप्त छद्म का विरोध करने की मुद्रा अपनाकर साहित्य में नए-नए छद्म पैदा करने की कोशिश करने लगती है, केवल अपने को प्रतिष्ठित करने की मंशा से। इसमें इनसान के बुनियादी मूल्यों और सपनों के प्रति एक दर्द भरी आस्था है—

खुदा नहीं, न सही, आदमी का ख्वाब सही
कोई हसीन नजारा तो है नजर के लिए।

एक खंडहर के हृदय-सी, एक जंगली फूल-सी
आदमी की पीर गूंगी ही सही, गाती तो है।

और इसी विश्वास के साथ उसने आदमी से, मानव मात्र से, अपनी एकात्मता स्थापित की थी और इसीलिए वह कह सकता था—*मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं।*

सन् '75 खत्म होने को आ रहा है। कुछ अजीब दिन हैं। बेहद उदास और थका हुआ सा छोड़ गए हैं मुझे। दुष्यंत को मैंने चार-पांच लाइनों का एक छोटा सा खत लिखा है। और वह मेरा खत पाकर उद्विग्न हो उठा है और लंबा सा खत लिखता है अपनी कुछ नई गजलों के साथ जो छपने के लिए नहीं, सिर्फ मेरे देखने के लिए हैं। मैंने दफ्तर से कुछ दिनों की छुट्टी ली है। सिर्फ आराम करने के लिए। पढ़ता हूं, घूमता हूं, वक्त-बेवक्त नींद आने पर सोता हूं।

और तीसरे पहर अकस्मात् जगाया जाता है। दफ्तर से सरल जी का फोन है। खबर है–दुष्यंत नहीं रहे!

मैं और पुष्पा गाड़ी लेकर बेतहाशा भागते हैं कमलेश्वर के घर, यह आघात अकेले नहीं सहा जाएगा–अभी-अभी तो राकेश के खोने का जख्म नहीं भरा और दुष्यंत''राकेश के जाने पर बिलखकर रोया था, लेकिन इस बार आंसू भी जम गए हैं। यह हुआ क्या? अब तो उसको अपनी सही पहचान मिली थी। अब तो उसको अपनी भाषा, अपना छंद, अपना कथ्य मिला था और अभी ही उसको जाना था–

उसने आखिर क्या किया था? चूंकि दीवार पर लगी काई के कारण सूरज से दीवार पर चढ़ा नहीं जा रहा था, इसलिए थोड़ी सी काई खुरच दी थी, ताकि सूर्य का स्वागत हो सके।

भोपाल से मैं कई बार गुजरा हूं पर कभी उतरा नहीं। दुष्यंत का इसरार था कि भोपाल आइए तो सांची चलकर दो-तीन दिन चुपचाप चैन से गुजारेंगे। शरद को भी खींच ले चलेंगे।

अब कभी उस नगर जाऊंगा और ताल के किनारे खड़ा होऊंगा तो उसकी यही दो पंक्तियां याद करके चुप खड़ा रहूंगा–

हौले हौले पांव हिलाओ जल सोया है छेड़ो मत
हम सब अपने-अपने दीपक यहीं सिराने आएंगे।

कहानी रहि जाएगी

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

बात संभवतः सन् '66-67 की है। डॉ० बच्चन रतलाम होकर कृष्णकिशोर श्रीवास्तव के विशेष आग्रह पर बिलासपुर के एक आयोजन में जा रहे थे। उन्होंने मुझे लिखा कि कुछ घंटे मेरे घर ठहरेंगे। मैंने इस अवसर का लाभ उठाकर अपने मन से घर पर एक काव्यगोष्ठी रख ली तथा गिने-चुने लोगों को इसकी सूचना फोन पर दे दी। यद्यपि बच्चन जी ने लिखा था कि उनके आने की सूचना किसी को न दी जाए। लेकिन जब स्टेशन पर मैंने बच्चन जी को काव्यगोष्ठी की सूचना दी, तो वो प्रसन्न ही हुए। गोष्ठी में आने की सूचना मैंने दुष्यंत को भी दी थी; बाद में बच्चन जी के याद करने पर एक पत्र लिखा, लेकिन दुष्यंत ने संदेशवाहक के हाथ एक पत्र बच्चन जी को लिखकर आने से इनकार कर दिया। वह पत्र मैंने ही चुपके से अपने पास रख लिया। इस बीच कवि-गोष्ठी बड़े माधुर्यपूर्ण ढंग से समाप्त हुई।

बाद में जब हम साथ में खाना खाने बैठे, तो पुनः बच्चन जी को दुष्यंत की याद आई। उन्होंने पूछा, तो मैंने दुष्यंत की चिट्ठी बच्चन जी के हाथों में रख दी, 'आदरणीय बच्चन जी, मेरे और आपके संबंध बहुत पुराने हैं। आप भोपाल आए, और मेरे पास न ठहरे, ये मुझे स्वीकार नहीं। क्षमा करें, मैं गोष्ठी में आने में असमर्थ हूं।'–दुष्यंत कुमार।

इस बीच आकाशवाणी की गाड़ी बच्चन जी को स्टेशन ले जाने के लिए मेरे घर के सामने आकर खड़ी थी। समय सवा दस से ऊपर हो रहा था।

दस बजकर पचपन मिनट पर गाड़ी छूटती थी। बच्चन जी ने जब दुष्यंत की चिट्ठी पढ़ी, तो मुझसे बोले–'नर्मदा, रेडियो की गाड़ी वापस कर दो, हम अब बिलासपुर न जाकर दुष्यंत से मिलने जाएंगे।'

मैंने प्रस्ताव रखा कि सामान गाड़ी में रखकर दुष्यंत से मिलते हुए स्टेशन चला जाए, ताकि दोनों काम एक साथ हो जाएं। बात बच्चन जी को जंच गई।

हम लोग जब दुष्यंत के घर पहुंचे, तो समय साढ़े दस से ऊपर हो चुका था। दुष्यंत दरवाजे में ताला लगाकर सोने को थे। लेकिन जैसे ही बच्चन जी ने आवाज

लगाई, दुष्यंत ने प्रफुल्ल होकर राजो भाभी को पुकारा, और ताला खोलकर फौरन बच्चन जी के चरणों में अपना सिर झुका दिया!

ऐसा था वह गबरू जवान हमारा दोस्त दुष्यंत! दिल का धनी, और मान-सम्मान का पक्का!

दुष्यंत के चले जाने पर जाना कि भोपाल का आम और खास आदमी उसे इतना अधिक प्यार करता था। अब तो केवल उसकी कहानियां भर शेष रह गई हैं-

सबै जन कहेंगे हेरि-हेरि, रोय-रोय,
प्यारे दुष्यंत की कहानी रहि जाएगी।

मेरी गजलें (आत्मकथ्य)

दुष्यंत कुमार

इधर बार-बार मुझसे यह सवाल पूछा गया है और यह कोई बुनियादी सवाल नहीं है कि मैं गजलें क्यों लिख रहा हूं? यह सवाल कुछ-कुछ ऐसा ही है, जैसे बहुत दिनों तक कोट-पतलून वाले आदमी को एक दिन धोती-कुर्ते में देखकर आप उससे पूछें कि तुम धोती-कुर्ता क्यों पहनने लगे? मैं महसूस करता हूं कि किसी भी कवि के लिए कविता में एक शैली से दूसरी शैली की ओर जाना कोई अनहोनी बात नहीं बल्कि एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया है। किंतु मेरे लिए बात सिर्फ इतनी नहीं है। सिर्फ पोशाक या शैली बदलने के लिए मैंने गजलें नहीं कहीं। उसके कई कारण हैं जिनमें सबसे मुख्य है कि मैंने अपनी तकलीफ को··उस शदीद तकलीफ को, जिससे सीना फटने लगता है, ज्यादा से ज्यादा सचाई और समग्रता के साथ ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचाने के लिए गजल कही है।

जिंदगी में कभी-कभी ऐसा दौर आता है, जब तकलीफ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आना चाहती है। उस दौर में फंसकर गमे जानां और गमे दौरां तक एक हो जाते हैं। ये गजलें दरअसल ऐसे ही एक दौर की देन हैं।

यहां मैं साफ कर दूं कि गजल मुझ पर नाजिल नहीं हुई। मैं पिछले पच्चीस वर्षों से इसे सुनता और पसंद करता आया हूं और मैंने कभी चोरी-छिपे इसमें हाथ भी आजमाया है। लेकिन गजल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अकसर मुझे तंग करती रही है। और वह यह कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्जा गालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए गजल का माध्यम ही क्यों चुना? और अगर गजल के माध्यम से गालिब अपनी निजी तकलीफ को इतना सार्वजनिक बना सकते हैं तो मेरी दुहरी तकलीफ (जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठकवर्ग तक क्यों नहीं पहुंच सकती?

मुझे अपने बारे में कभी मुगालते नहीं रहे। मैं मानता हूं, मैं गालिब नहीं हूं। उस प्रतिभा का शतांश भी शायद मुझमें नहीं है। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि मेरी

तकलीफ गालिब से कम है या मैंने उसे कम शिद्दत से महसूस किया है। हो सकता है, अपनी-अपनी पीड़ा को लेकर हर आदमी को यह वहम होता हो···लेकिन इतिहास मुझसे जुड़ी हुई मेरे समय की तकलीफ का गवाह खुद है।

बस···अनुभूति की इसी जरा सी पूंजी के सहारे मैं उस्तादों और महारथियों के अखाड़े में उतर पड़ा। मैं जानता था कि हिंदी में निराला से लेकर शमशेर तक अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने गजल के माध्यम को आजमाया है। गजल का चस्का मुझे खुद शमशेर बहादुर सिंह की गजलें सुनकर लगा था। हां, मैंने गजल, अपने चारों ओर बुनी जा रही कविता की एकरसता तोड़ने के लिए भी कहना शुरू किया।

यह एक विवादास्पद बात हो सकती है पर मैं बराबर महसूस करता रहा हूं कि कविता में आधुनिकता का छद्म, कविता को बराबर पाठकों से दूर करता गया है। कविता और पाठक के बीच इतना फासला कभी नहीं था, जितना आज है। इससे भी ज्यादा दुःखद बात यह है कि कविता शनैः-शनैः अपनी पहचान और कवि अपनी शख्सियत खोता गया है। ऐसा लगता है, गोया दो दर्जन कवि एक ही शैली और शब्दावली में एक ही कविता लिख रहे हैं। इस कविता के बारे में कहा जाता है कि यह सामाजिक और राजनीतिक क्रांति की भूमिका तैयार कर रही है। मेरी समझ में यह वक्तव्य भ्रामक है और यह दलील खोटी है। जो कविता लोगों तक पहुंचती नहीं, उनके गले नहीं उतरती, वह किसी भी क्रांति की संवाहिका कैसे हो सकती है!

पिछली पीढ़ी के कवियों के बरअक्स आव की इन कविताओं में यह तय कर पाना भी मुश्किल है कि यह किसकी कविता है और यह कविता है भी कि नहीं। इसीलिए मैंने कहा कि कविता की एकरसता या फिर आधुनिक, युवा, वाम और नई आदि विशेषणों से मंडित आज की कविता के वाग्जाल और सपाटबयानी से उकताकर मैंने उर्दू के इस पुराने और आजमूदा माध्यम की शरण ली है—गोकि मैं जानता था कि यहां भी इश्क और हुस्न से हटकर तकलीफ का बखान एक मुश्किल और नाजुक काम है और गजल की रवायत से बंधे हुए लोग मेरी इस कोशिश पर नाक-भौं जरूर सिकोड़ेंगे।

और मेरा संदेह गलत नहीं निकला। पाकिस्तान और हिंदुस्तान की नई पीढ़ी के उर्दू अदीबों ने जहां इन गजलों को हाथोहाथ लिया, वहां कुछ पुराने शायरों ने व्यंग्य और तीखे यथार्थ के कुछ अशआर के बारे में कहा कि ये 'गजल के शेर' नहीं हैं। अलबत्ता हिंदी में नई कविता से गीत और कहानी से व्यंग्य तक हर विधा के रचनाकारों पर इनकी अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया हुई।

मुझे लगता है आज जब कविता में, छंद और काव्य में अनुशासन की बात फिर से उठाई जाने लगी है और उन लोगों द्वारा उठाई जाने लगी है जो कविता को अकविता बनाने की साजिश में शामिल थे—तो शायद हिंदी में गजल लाने की यह कोशिश रायगां नहीं जमेगी।

नई कविता का कवि छंद के अनुशासन और आवश्यकता से परिचित था। किसी हद तक उस पर अधिकार भी रखता था परंतु वह छंद की रूढ़ियों पर छंद के ढांचे में कुछ नया न कह पाने की विवशता से छंदहीनता की ओर उन्मुख हुआ। इसीलिए जब भी और जहां भी छंद में नया कुछ कहा गया, नई कविता ने उसका स्वागत किया और उसे अपनाया। श्री केदारनाथ सिंह और श्री ठाकुर प्रसाद सिंह के गीतों की स्वीकृति इसका प्रमाण है। इसलिए बावजूद इसके कि गजल एक स्वतंत्र चीज है, मैं उसे नई कविता की एक विधा तक मानने को तैयार हूं।

एक बात इन गजलों की भाषा के बारे में मुझे और कहनी है, जिसे लेकर शुरू-शुरू में मुझे सबसे अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। मेरी दिक्कत यह थी कि उर्दू मैं जानता नहीं और हिंदी में मुझे वह चुहल, वह मुहावरा और बोलचाल का वह बहाव नहीं मिला, जिसके सहारे गजल कही जाती है या जो ज्यादातर लोगों की जबान पर चढ़ा है। मगर यही अज्ञानता मेरे लिए एक शक्ति बन गई क्योंकि मुझे लगा कि आम आदमी एक मिली-जुली जबान बोलता है। वह न तो शुद्ध उर्दू होती है, न शुद्ध हिंदी। इसलिए मैंने उस भाषा की तलाश की, जो हिंदी को हिंदी और उर्दू को उर्दू दिखाई दे और आम आदमी उसे अपनी जबान समझकर अपना सके। इस प्रक्रिया में मैंने उर्दू शब्दों के तत्सम रूपों को रद्द करके उन्हें उस तरह स्वीकार किया, जिस तरह वे हिंदी में प्रचलित हैं···जैसे वज्न को वजन, शह को शहर या फसील को सफील।

यों प्रयोग के लिए मैंने कुछ गजलें शुद्ध हिंदी और कुछ शुद्ध उर्दू में भी कही हैं और उनमें से जो ठीक बन पड़ी हैं, वे यहां दी भी हैं। किंतु मैंने देखा कि उनमें से ज्यादातर या तो ज्यादा साहित्यिक हो गई हैं या ज्यादा कृत्रिम। और मैं सामान्य जीवन की जिस बेचैनी को उजागर करना चाहता हूं, वह शब्दों की चमक-दमक में कहीं खो गई है। इसलिए इन गजलों में गजलियत के साथ मेरी एक कोशिश यह भी रही है कि हिंदी और उर्दू के बीच ये एक सेतु का काम कर सकें। और यह इसलिए संभव लगता है कि कथ्य के स्तर पर इनमें मौजूदा हालात की बात कही

गई है। जो दृश्य सामने है, वह दृश्य जो सामने होना चाहिए उसकी जरूरत, समाज का जूझता और टूटता हुआ रूप, राजनीति और राजनीतिज्ञों का मुल्क और समाज के साथ सुलूक, इनसान यानी अवाम की जिंदगी, जरूरतें और उसके खतरे···इन सबको मैंने इन गजलों में बांधा है और इन संजीदा और भारी-भरकम मुद्दों को सहज से सहज अभिव्यक्ति और सादी से सादी भाषा में बयान करने की कोशिश की है–

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।

अथवा

बाढ़ की संभावनाएं सामने हैं
और नदियों के किनारे घर बने हैं।
चीड़ बन में आंधियों की बात मत कर
इन दरख्तों के बहुत नाजुक तने हैं।
आपके कालीन देखेंगे किसी दिन
इस समय तो पांव कीचड़ में सने हैं।
इस तरह टूटे हुए चेहरे नहीं हैं
जिस तरह टूटे हुए ये आईने हैं।
जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं।

मैंने इस गजल के कुछ ज्यादा अंश इसलिए उद्धृत किए कि इसके बाद मैं आपसे यह सवाल पूछ सकूं कि यह हिंदी है या उर्दू? दरअसल यह सवाल अनेक बार मेरे सामने उठाया गया है। मैंने हाल ही में रेडियो कश्मीर के कवि-सम्मेलन में जम्मू से जब ये गजलें पढी तो कुछ उर्दू-प्रेमी श्रोताओं ने सराहना के साथ यह एतराज भी किया था कि यह हिंदी कविता किधर से है? उस गजल की कुछ पंक्तियां हैं–

ये सारा जिस्म झुककर बोझ से
दुहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था आपको
धोखा हुआ होगा।

मैं तो यह मानता हूं कि उर्दू और हिंदी दोनों सगी बहनें हैं। और दोनों जब अपने ऊंचे सिंहासनों से उतरकर आम आदमी के पास आती हैं तो उनमें फर्क कर

पाना बड़ा मुश्किल होता है।

मैं स्वीकार करता हूं कि गजल को किसी भूमिका की जरूरत नहीं होती। हिंदी की आधुनिक कविता, जिसे पढ़ने के बाद एक धुंधला सा चित्र उभरता है और जिसके बारे में पाठक निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह वही चित्र है, जिसे कवि उभारना चाहता है–मेरी कविता नहीं है। मैं प्रतिबद्ध कवि हूं···यह प्रतिबद्धता किसी पार्टी से नहीं, आज के मनुष्य से है। और मैं जिस आदमी के लिए लिखता हूं, यह भी चाहता हूं कि वह आदमी उसे पढ़े और समझे···

कुछ यादें

शांता वर्मा

कमलेश्वर जी के दोस्तों के चेहरे भगवान् ने इस प्रकार बनाए होंगे जिनको भुलाया नहीं जा सकता है। मैं जब राकेश जी की याद करती हूं तो उनकी बेपनाह हंसी और उनका खिलखिलाता हुआ चेहरा अब भी मुझे पूरी तरह याद है। अब दुष्यंत जी को सोचती हूं तो एक खूबसूरत जिंदादिल चेहरा, उस पर बिखरे हुए बाल झांकते हुए नजर आते हैं। मैं कैसे बताऊं कि मुझे दोनों चेहरे अभी तक पूरी तरह ताजे फूलों की तरह याद हैं।

जाने क्या होता है कि जब आदमी नहीं रहता है, तो उसकी हर बात कुछ ज्यादा ही याद आने लगती है, शायद उसकी खाली जगह भरने के लिए। 30 दिसंबर की रात जब कमलेश्वर जी टी०वी० के प्रोग्राम से लौटे थे, दुष्यंत जी की याद में फूट-फूट कर रोए थे। और इन्होंने लंबी सांस लेकर कहा था कि 'मैं अब बिलकुल अकेला रह गया हूं।' उस दिन भारती जी व पुष्पा जी के सामने इन्होंने कितनी ही बातें दुष्यंत जी के संदर्भ में याद की थीं, जो शायद किसी ने पहले नहीं सुनी थीं।

एक बार क्या हुआ, हम लोग दिल्ली में रहते थे। ऊपर वाली मंजिल में राकेश जी रहते थे। अचानक नीचे स्कूटर रुका, पता चला कि दुष्यंत जी आए हैं। वह शायद मेरी उनसे पहली जान-पहचान थी। ऊपर आते ही दोनों दोस्त ऐसे मिले, जैसे एक-दूसरे के बिना बहुत बेचैन हों। तुरंत ही कमलेश्वर जी बोले—'जाओ शांता! जूते पानी में भिगो दो⋯' मैं देखती रह गई कि यह लोग भीगे जूतों का क्या करेंगे। मुझे ऐसे देखकर कमलेश्वर जी एकदम बोले—'साले को मारने के लिए, बिना बताए चला आता है। पहले से कोई खोज-खबर ही नहीं।'

हंसते हुए दुष्यंत जी बोले—'यार, क्या बताऊं, मैं यहां इंटरव्यू के लिए आया हूं, अभी साढ़े ग्यारह बजे मेरा इंटरव्यू है, जल्दी में कॉल लेटर मिल गया था, मैंने अटैची में कपड़े डाले और चला आया।' फिर अटैची खोलकर दिखाने लगे, उसमें सब गंदे कपड़े भरे हुए थे। उन कपड़ों को निकाल-निकालकर मुझसे कहने लगे—'भाभी जी, जरा इनको धुलवा देना।' मैं आश्चर्य में पड़ गई कि 11.30 बजे इनको

इंटरव्यू में जाना है। इतनी जल्दी यह सब धुलकर सूख भी नहीं सकते हैं! मैंने चुपचाप सब कपड़े उठा लिए और साबुन में भिगो दिए।

यह दोनों और ऊपर से राकेश जी आ गए थे। तीनों ठहाका मार-मारकर हंसने लगे थे।

उसके बाद मैं क्या देखती हूं कि दुष्यंत जी अपने इंटरव्यू में जाने के लिए तैयार हो रहे हैं। मैं जल्दी-जल्दी नाश्ता लगाने लगी, मुझे अंदर से कहीं डर भी लग रहा था कि दुष्यंत जी पहनेंगे क्या? पर देखती क्या हूं कि उन्होंने कमलेश्वर जी की कमीज तथा राकेश जी का कोट और जगदीश जोशी की (जो कि बगल वाले कमरे में रहते थे) टाई लगा ली है। सिर्फ पैंट ही केवल उनकी थी।

इंटरव्यू का मुझे ठीक नहीं मालूम क्या हुआ, पर दूसरे दिन वह सुबह से ही कमलेश्वर जी से कहने लगे थे कि यार तुझे तो मेरे साथ भोपाल चलना है। अगर तू नहीं चलेगा तो भाभी और मानू को मैं जरूर ले जाऊंगा, और उनके पीछे तुझे आना ही पड़ेगा। पर कमलेश्वर जी अपने ढेर सारे काम बतलाकर उनको टाल रहे थे। उन दिनों कमलेश्वर जी की हालत बहुत खस्ता थी। फ्रीलांसिंग करते थे, टी०वी० में न्यूज पढ़ते थे। मुझे लगा कि बात यहीं समाप्त हो गई है। यह लोग अपने-अपने काम पर चले गए।

परंतु देखती क्या हूं कि शाम को चार बजे दुष्यंत जी घर पर आ गए और बोले—'भाभी, जल्दी-जल्दी तैयारी कर लो। अब तुम लोगों को भोपाल चलना है।' मैंने कहा कि मानू के पास तो जूते ही नहीं हैं। इनको आ जाने दो, तब सब ठीक रहेगा। दुष्यंत जी बोले—'जूतों की फिकर न करो, मैं अभी लाता हूं, तुम तैयारी करो।' और मानू को लेकर सीढ़ियों से नीचे उतर गए।

करीब सात बजे तक मानू सहित हम लोग पूरी तरह तैयार होकर राकेश और कमलेश्वर जी का इंतजार करने लगे थे। जब कमलेश्वर जी आए तो इन्होंने बेडिंग आदि सब बंधा हुआ देखा तो बोले—'कहां जाने की तैयारी है?' मैं ताज्जुब में पड़ गई कि क्या इनको मालूम नहीं है! दुष्यंत जी हंसने लगे, बोले—'मैं तो इन दोनों को लिए जा रहा हूं, अगर तुम्हारा मन हो तो चलो, नहीं तो कोई बात नहीं।' मजबूरी में इनको भी तैयारी करनी पड़ी। लद-फंदकर हम लोग स्टेशन पहुंचे। रिजर्वेशन तो था नहीं, इसलिए इनको बहुत चिंता थी।

गाड़ी आई, उसमें इतनी भीड़ थी कि चढ़ना मुश्किल। दुष्यंत जी फौरन आस्तीन चढ़ाते हुए आए और बोले—'भाभी, अब मैं अपनी गुंडागर्दी दिखाता हूं और खिड़की से अंदर डिब्बे में पहुंच गए, और मुझसे बोले कि मानू को दे दो।'

कमलेश्वर जी ने मानू को दे दिया, और खिड़की से बेडिंग अंदर धकेल दिया। जैसे-तैसे हम लोग संदूक सहित अंदर आ गए।

दुष्यंत जी ऊपर सीट पर जहां सामान रखते हैं, मानू को लेकर आराम से बैठे बीड़ी निकाल रहे थे। थोड़ी देर बाद उन्होंने दो-चार लोगों को बीड़ियां पिलानी शुरू कर दीं। नीचे बैठे दो सज्जन जरा खिसककर बोले—'आइए, आप लोग बैठ जाइए।' हम दोनों को बैठकर इतनी राहत मिली कि कुछ न पूछो।

दुष्यंत जी का रूप जब याद करती हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि आदमी को दिल से जीना चाहिए, वही कुछ तो सब याद रहता है। और यह अच्छी यादें उनकी आत्मा तक यदि पहुंचती हों तो अवश्य उनको लगता होगा कि कहीं कोई है, जो उनको याद करते हैं।

अपने-अपने क्रॉस

प्रभात कुमार भट्टाचार्य

मैं स्थितियों से भागना चाहता हूं। मेरे इस सफर में मेरे साथ कोई नहीं है। मैं इस सफर को बहुत जल्द तय कर लेना चाहता हूं। और मैं सफर को टालने के लिए बहाना ढूंढ़ रहा हूं। लेकिन सफर टल नहीं सकता। मैं रफ्तार पर रोक लगाने की कोशिश करता हूं। एक बेहद स्लो ट्रेन पकड़ ली है मैंने। खिड़की से लगी अकेली सीट पर मैं बैठा हूं। धूप की किरण खिड़की के कांच पर तिरछी पड़ रही है। सामने खेत हैं। रेल की पटरियों के बहुत करीब, खेत की मेड़ पर एक बेशरम ठूंठ हरियाली को नकारता हुआ अपनी जगह पर कायम है। इसी ठूंठ के सहारे खड़े मैंने उसको देखा। हां, वही तो था। पता नहीं ट्रेन चल रही है या नहीं, लेकिन न तो ठूंठ मेरे सामने से हट रहा है और न वह। वही बेसाख्ता हंसी, वही शरारत से भरी आंखें, वही सिगरेट के कश-पे-कश। मैं खिड़की का शीशा ऊपर चढ़ा देता हूं। ठूंठ ट्रेन की खिड़की से सट गया है। इंजन जोरों से स्टीम छोड़ रहा है। स्टीम के गुबार पर पड़ती सूर्य की किरण। एक इंद्रधनुष बार-बार बनता है, मिटता है, फिर बनता है। वह अचानक गंभीर हो गया है। उसकी आंखें उस बनते-मिटते-बनते इंद्रधनुष पर टिकी हुई हैं।

"प्रभात, तुम्हें ये इंद्रधनुष इंस्पायर नहीं करते?" एक दिन दुष्यंत ने कहा था। मैं चौंक पड़ा था। इस दुष्यंत को क्या हो गया है?

"क्यों, आसमानी दे रहे हो?" मैंने दुष्यंत की गंभीरता पर पानी फेरने की कोशिश की।

"क्या करूं, यार! लोग धरती पर कदम नहीं जमने देते।"

"स्साले, तुम भोपाली साहित्यकारों का एक अखिल भारतीय दंगल होना चाहिए।"

"मैं भोपाल की बात नहीं कर रहा, प्रभात। बुनियादी बात कर रहा हूं।"

"क्या बात है, आज तो बड़ी समझदारी की बातें कर रहे हो!"

"वैसे समझदारी की बात तो मैं हमेशा करता हूं लेकिन अकसर मेरी बातें

तुम्हारे सिर के ऊपर से निकल जाती हैं।" और एक ठहाके की मोटी परत ने दहकते अंगारों पर राख डाल दी।

ट्रेन अपनी रफ्तार से बदस्तूर चल रही है। ठूंठ डिब्बे के अंदर आ गया है। दुष्यंत मेरी बगल में आ बैठा है। "देख रहे हो एक अकेली सीट पर बैठा हूं, फिर भी इसी में तुम आ धंसे।"

मैं चिढ़ता हूं।

"चिढ़ता क्यों है, यार! मैंने तो अब यारों के लिए सारा मैदान छोड़ दिया है।"

अजीब सा सर्द अंदाज है दुष्यंत का।

"धत् साले, कायरों की तरह मैदान छोड़कर भाग गए!"

"मैदान जरूर छोड़ा है, मगर भागा नहीं हूं।"

"हां, और कुछ नहीं मिला तो 'दुष्यंत त्रयोदशी संध्या' के नाम से दोस्तों की महफिल जमा दी।"

69/8, साउथ टी०टी० नगर, भोपाल। मगर मैं उस घर की तरफ नहीं देख रहा हूं। सामने आदर्श विद्यालय की ओर बेमतलब नजरें टिकाए हूं। कदम चल रहे हैं। मैं उस घर की तरफ नहीं देखना चाहता। दिल की धड़कनें बेहद तेज हो गई हैं। गला सूख रहा है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं लगातार चलता रहूं और उस घर के फाटक का सामना कभी न हो!

मुन्नू जी से सामना हो चुका है। अब बचने का कोई रास्ता नहीं है। मैं फाटक के अंदर दाखिल होता हूं। शरद जोशी बैठे हैं। कन्हैयालाल नंदन से मेरा परिचय यहीं होता है। क्या सिचुएशन है पहली मुलाकात की! नंदन अंदर जा चुके हैं भाभी से मिलने। मैं अंदर जाना चाहता हूं। मैं अंदर नहीं जाना चाहता। शिव शर्मा आ पहुंचते हैं। थोड़ी हिम्मत बंधती है। हम दोनों भाभी के सामने बैठे हैं। कोई कुछ नहीं बोल रहा है। आखिर भाभी बोलती हैं—"आपको बहुत याद करते थे।"

"रहने दीजिए, सब झूठ है। पूरा मक्कार था, धोखा दे गया।" मगर ऐसा कह नहीं पाता।

"शाम को आएंगे न?" मुन्नू जी कहते हैं। मैं 'न' नहीं कर पाता। मैं जानता हूं, मैं नहीं आऊंगा। क्या खूबसूरत नामकरण है इस 'महोत्सव' का—'दुष्यंत त्रयोदशी संध्या'। लोग साबित कर देंगे कि दुष्यंत सर्वश्रेष्ठ था। मैं उस दगाबाज की सारी कलई खोल दूंगा। सफर साथ तय करने का वादा था। मगर उस मक्कार ने यात्रा ही समाप्त कर दी। मैं नहीं गया वहां।

गालियां और गालियां, बेशुमार गालियां। मेरे और दुष्यंत के बीच सिर्फ गालियों का रिश्ता था। उज्जैन में भी गालियों का एक विशेष मौसम आता है और उस फागुनी माहौल में होता है 'टेपा सम्मेलन'। शिव शर्मा के पास दुष्यंत का संदेश आता है—खबरदार कर देना प्रभात को तैयार रहे। उसे सरेआम माइक पर गाली दूंगा।

टेपा सम्मेलन के मंच पर शिव शर्मा दुष्यंत के नाम का हांका लगाते हैं। मैं और दुष्यंत आमने-सामने हैं। दुष्यंत ने किस्सा छेड़ा—

प्रभात बड़ा मासूम दिखता है। बड़ी से बड़ी बात हो जाए, लोग कपड़े फाड़ दें, मगर प्रभात बड़ी मासूमियत से मुस्करा देगा। एक दिन तंग आकर हमने प्रभात से कहा—"यार, कुछ देर के लिए अपना चेहरा उधार दे दे।" प्रभात ने पूछा—"क्यों," तो मैंने जवाब दिया—"क्योंकि मेरी तबीयत जूते खाने की हो रही है।"

सारी भीड़ हंसती हुई मुझे हूट कर रही है और मैं दुष्यंत के कान में बोल रहा हूं—"साले भोपाली कव्वाल, कमलेश्वर का लतीफा फेंक रहा है।"

दुष्यंत ने पलटा मारा—"कमलेश्वर के पास लतीफेबाजी के अलावा है ही क्या। साहित्य तो मैं लिख रहा हूं या थोड़ा-बहुत तुम लिख रहे हो। वह भी इसलिए कि मेरी संगत का असर है।"

दुष्यंत की संगत का जायजा कमोबेश उसके सभी दोस्त भुगत चुके हैं। उज्जैन में मेरे ऑफिस में बैठा है दुष्यंत—"यार, छोड़ ये कारकूनी।"

"तू टलेगा नहीं।"

"टल तो जाऊंगा। मगर तुझे महंगा पड़ेगा।"

"ब्लैकमेल कर रहे हो?"

दुष्यंत फोन उठा लेता है—1020, श्रीमती भट्टाचार्य से बात···अच्छा भाभी जी, आप हैं। नमस्ते, मैं दुष्यंत बोल रहा हूं···आया तो काफी देर से हूं और यहां प्रभात के ऑफिस के नीचे के कमरे से बोल रहा हूं···क्या करूं, ऊपर साहब बहादुर का कमरा बंद है···जी हां, उनका चपरासी कह रहा है कि वे अपनी स्टेनो को बड़ी देर से कुछ डिक्टेशन दे रहे हैं···अच्छा, आपको नहीं मालूम···!

गनीमत है, पहली मुलाकात से ही उस शैतान से श्रीमती भट्टाचार्य परिचित हो गई थीं।

श्याम व्यास ने मुझे खबर भेज दी थी—"आज शाम को दुष्यंत से तुम्हारा परिचय कराऊंगा।"

मैं अपने मक्सी रोड वाले मकान में उन दोनों की राह देख रहा था।

आते ही दुष्यंत लिपट गया और बेसाख्ता बोला—"धत् साले, तुम हो! इतना

तुम्हारे सिर के ऊपर से निकल जाती हैं।" और एक ठहाके की मोटी परत ने दहकते अंगारों पर राख डाल दी।

ट्रेन अपनी रफ्तार से बदस्तूर चल रही है। ठूंठ डिब्बे के अंदर आ गया है। दुष्यंत मेरी बगल में आ बैठा है। "देख रहे हो एक अकेली सीट पर बैठा हूं, फिर भी इसी में तुम आ धंसे।"

मैं चिढ़ता हूं।

"चिढ़ता क्यों है, यार! मैंने तो अब यारों के लिए सारा मैदान छोड़ दिया है।"

अजीब सा सर्द अंदाज है दुष्यंत का।

"धत् साले, कायरों की तरह मैदान छोड़कर भाग गए!"

"मैदान जरूर छोड़ा है, मगर भागा नहीं हूं।"

"हां, और कुछ नहीं मिला तो 'दुष्यंत त्रयोदशी संध्या' के नाम से दोस्तों की महफिल जमा दी।"

69/8, साउथ टी०टी० नगर, भोपाल। मगर मैं उस घर की तरफ नहीं देख रहा हूं। सामने आदर्श विद्यालय की ओर बेमतलब नजरें टिकाए हूं। कदम चल रहे हैं। मैं उस घर की तरफ नहीं देखना चाहता। दिल की धड़कनें बेहद तेज हो गई हैं। गला सूख रहा है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मैं लगातार चलता रहूं और उस घर के फाटक का सामना कभी न हो!

मुन्नू जी से सामना हो चुका है। अब बचने का कोई रास्ता नहीं है। मैं फाटक के अंदर दाखिल होता हूं। शरद जोशी बैठे हैं। कन्हैयालाल नंदन से मेरा परिचय यहीं होता है। क्या सिचुएशन है पहली मुलाकात की! नंदन अंदर जा चुके हैं भाभी से मिलने। मैं अंदर जाना चाहता हूं। मैं अंदर नहीं जाना चाहता। शिव शर्मा आ पहुंचते हैं। थोड़ी हिम्मत बंधती है। हम दोनों भाभी के सामने बैठे हैं। कोई कुछ नहीं बोल रहा है। आखिर भाभी बोलती हैं—"आपको बहुत याद करते थे।"

"रहने दीजिए, सब झूठ है। पूरा मक्कार था, धोखा दे गया।" मगर ऐसा कह नहीं पाता।

"शाम को आएंगे न?" मुन्नू जी कहते हैं। मैं 'न' नहीं कर पाता। मैं जानता हूं, मैं नहीं आऊंगा। क्या खूबसूरत नामकरण है इस 'महोत्सव' का—'दुष्यंत त्रयोदशी संध्या'। लोग साबित कर देंगे कि दुष्यंत सर्वश्रेष्ठ था। मैं उस दगाबाज की सारी कलई खोल दूंगा। सफर साथ तय करने का वादा था। मगर उस मक्कार ने यात्रा ही समाप्त कर दी। मैं नहीं गया वहां।

गालियां और गालियां, बेशुमार गालियां। मेरे और दुष्यंत के बीच सिर्फ गालियों का रिश्ता था। उज्जैन में भी गालियों का एक विशेष मौसम आता है और उस फागुनी माहौल में होता है 'टेपा सम्मेलन'। शिव शर्मा के पास दुष्यंत का संदेश आता है—खबरदार कर देना प्रभात को तैयार रहे। उसे सरेआम माइक पर गाली दूंगा।

टेपा सम्मेलन के मंच पर शिव शर्मा दुष्यंत के नाम का हांका लगाते हैं। मैं और दुष्यंत आमने-सामने हैं। दुष्यंत ने किस्सा छेड़ा—

प्रभात बड़ा मासूम दिखता है। बड़ी से बड़ी बात हो जाए, लोग कपड़े फाड़ दें, मगर प्रभात बड़ी मासूमियत से मुस्करा देगा। एक दिन तंग आकर हमने प्रभात से कहा—"यार, कुछ देर के लिए अपना चेहरा उधार दे दे।" प्रभात ने पूछा—"क्यों," तो मैंने जवाब दिया—"क्योंकि मेरी तबीयत जूते खाने की हो रही है।"

सारी भीड़ हंसती हुई मुझे हूट कर रही है और मैं दुष्यंत के कान में बोल रहा हूं—"साले भोपाली कव्वाल, कमलेश्वर का लतीफा फेंक रहा है।"

दुष्यंत ने पलटा मारा—"कमलेश्वर के पास लतीफेबाजी के अलावा है ही क्या। साहित्य तो मैं लिख रहा हूं या थोड़ा-बहुत तुम लिख रहे हो। वह भी इसलिए कि मेरी संगत का असर है।"

दुष्यंत की संगत का जायजा कमोबेश उसके सभी दोस्त भुगत चुके हैं। उज्जैन में मेरे ऑफिस में बैठा है दुष्यंत—"यार, छोड़ ये कारकूनी।"

"तू टलेगा नहीं।"

"टल तो जाऊंगा। मगर तुझे महंगा पड़ेगा।"

"ब्लैकमेल कर रहे हो?"

दुष्यंत फोन उठा लेता है—1020, श्रीमती भट्टाचार्य से बात···अच्छा भाभी जी, आप हैं। नमस्ते, मैं दुष्यंत बोल रहा हूं···आया तो काफी देर से हूं और यहां प्रभात के ऑफिस के नीचे के कमरे से बोल रहा हूं···क्या करूं, ऊपर साहब बहादुर का कमरा बंद है···जी हां, उनका चपरासी कह रहा है कि वे अपनी स्टेनो को बड़ी देर से कुछ डिक्टेशन दे रहे हैं···अच्छा, आपको नहीं मालूम···!

गनीमत है, पहली मुलाकात से ही उस शैतान से श्रीमती भट्टाचार्य परिचित हो गई थीं।

श्याम व्यास ने मुझे खबर भेज दी थी—"आज शाम को दुष्यंत से तुम्हारा परिचय कराऊंगा।"

मैं अपने मक्सी रोड वाले मकान में उन दोनों की राह देख रहा था।

आते ही दुष्यंत लिपट गया और बेसाख्ता बोला—"धत् साले, तुम हो! इतना

भारी-भरकम नाम, डॉ० प्रभात कुमार भट्टाचार्य।" मैं सोचता था, खूब ऊंचे-पूरे, लहीम-शहीम होंगे! न सही टैगोर जैसी दाढ़ी, मगर तुम्हारी कुल जमा हाइट उनकी दाढ़ी जितनी भी तो नहीं! हां, तुम्हारी कमलेश्वर से खूब जमेगी।

हंसी का तूफान उठ गया था और पिछले 16 वर्षों से उसी तूफान से घिरा था।

मगर अब कहीं कोई तूफान नहीं। शांति कुछ ज्यादा ही है। ट्रेन अपनी लीक पर वापस लौट रही है। वही डिब्बा है। वही खिड़की के पास वाली सीट है। डिब्बे के अंदर वही ठूंठ है और दुष्यंत मेरे साथ वैसा ही बैठा है।

"सब कुछ खत्म हो गया?" दुष्यंत ने पूछा।

मैं खिड़की के बाहर झांक रहा था। एकदम पलटकर बरस पड़ा—"क्या खत्म हुआ! कुछ भी नहीं। न कहीं झंडे झुके, न ही स्कूल-कॉलेज बंद हुए और न ही दफ्तर-कारखाने। तू अपने को समझता क्या है?"

उसने मेरी बात को नजरअंदाज कर दिया।

"प्रभात, इस डिब्बे में जो स्त्री-पुरुष-बच्चे हैं, वे सब के सब तुम्हारे लिए महज भीड़ हैं। लेकिन उन सबकी अपनी अलग-अलग पहचान है। इनमें से एक भी कम होता है तो देश की जनसंख्या घटती है, देश खुशहाल होता है। लेकिन जो गुजर जाता है उसके आसपास के, करीब के, कुछ लोग मातम मनाते हैं—एक दिन, दो-दिन, बरस, दो बरस—बस। और फिर उनकी भी यादों पर धूल जमा हो जाती है।"

"और जो गुजर जाता है, वह?"

"साफ बच निकलता है। आज मैं कितना हलका महसूस कर रहा हूं। जिंदगी के बयालीस साल खूब दौड़ा मैं। दौड़ा कहां, सिर्फ भटकता रहा। थककर बैठ भी गया। लेकिन यह रैट-रेस किसी को बैठने कहां देती है? मैं बार-बार उठा और बार-बार भागा। भागा-थका-बैठा-उठा-भागा, और आखिर हाथ लग ही गई वह चीज। यारों ने सारा तेल चूस लिया था। सिर्फ बाती बची थी। लगा दी आग मैंने इस बाती के आखिरी दौर में।"

"लेकिन तुमने यह नहीं बताया कि आखिर कौन सी चीज तुम्हारे हाथ लगी?"

दुष्यंत एकटक ठूंठ को देख रहा था। "यह ठूंठ देख रहे हो। मगर तुमने पूछा नहीं कि इसे क्यों साथ लिए फिर रहा हूं, मरने के बाद? सुनो, बताता हूं।"

दुष्यंत मुस्कराता है। "इस उम्मीद पर कि कभी इस ठूंठ में नमी आएगी। इसकी हरियाली से दुश्मनी की आदत छूटेगी और इस ठूंठ पर कभी तो गुलमोहर खिलेंगे।"

दुष्यंत : यारों का यार···

दामोदर सदन

तब भोपाल में गुलाबी सर्दी का मौसम था। मेरी और दुष्यंत की मुलाकात शायद 1960 में हुई थी। हवा में शीत पुष्पों की महक थी और भोपाल में गुलदाउदी के फूलों का मेला लगने ही वाला था। नहीं जानता था कि यह छोटी सी मुलाकात रफ्ता-रफ्ता दोस्ती में बदल जाएगी, और किसी दिन यह आदमी मुझसे दुश्मनी करके हमेशा-हमेशा के लिए मुंह मोड़कर चला जाएगा।

जैसे ही उसकी मौत की खबर मुझे धार में लगी, इच्छा हुई हवाई जहाज से उड़कर उसके घर पहुंच जाऊं। जब तक बस भोपाल नहीं पहुंच गई, तब तक मन भयंकर बेचैन रहा। उसके साथ बिताए दिन याद आते रहे। तब हम लोग रोजाना ही मिलते थे। तब वह पहाड़ियों के इस खुशनुमा शहर में दिल्ली से आया था। भगवंत देशपांडे के क्वार्टर पर उसने डेरा जमा लिया था, जिससे उसकी मुलाकात रेडियो के माध्यम से हुई थी। वह रेडियो के ही ट्रांसमिशन एग्जीक्यूटिव गर्ग के साथ घूमता हुआ नजर आता था।

उसकी जिंदगी में तब हम दो दोस्त, कुछ लड़कियां और एक स्कूटर था।

दिन बड़ी तेजी से भागते चले जा रहे थे और उसका मोहक और धारदार व्यक्तित्व मुझ पर तारी होने लगा था। वह रेडियो के लिए 'भोपाल रात की बांहों में' तैयार करना चाह रहा था। झींगुरों और सन्नाटे की आवाज को कैद करना चाहता था—आज रात चलेंगे, तैयार रहना, सदन···और हम लोग भोपाल को रात की बांहों में देखते रहे। दूसरे दिन शाम हम फिर मिले थे···वह बोला था—'क्यों यार, तुम रात में ठिठुरते रहे, कोट वगैरह नहीं है क्या?' मैंने उसे बताया था कि कोट से मुझे बड़ी नफरत है, तो भी उसने मुझे अपना एक बढ़िया कोट दे दिया था।

उसमें बहुत जान थी और उसका यह दमखम मरते वक्त तक कायम रहा। लड़ाई न्योतने की कला में वह माहिर था। लिहाजा उसने अपने इर्द-गिर्द दुश्मनों की एक भीड़ भी जमा कर ली, क्योंकि शायद वह बिना उनके जी नहीं सकता था। दुश्मन हम दोनों का शिकार करने लगे थे। हम लोगों ने भी अपनी मोर्चाबंदी

कर ली थी और हमारी छटंकी भी उन पर भारी पड़ने लगी थी। इस खेल में कुछ मसखरे भी शामिल हो गए थे। हम लोग कभी-कभी भयंकर शरारतें भी करते—एक कवि को हमने पांच हजार रुपयों के इनाम का डॉक्यूमेंट दिलवा दिया था और दुष्यंत ने ढाई हजार रुपए का डॉक्यूमेंट स्वयं रख लिया था। उस कवि ने डॉक्यूमेंट सामने रखकर दुष्यंत से उसके घर पर कहा था—'दुष्यंत, मैं पहले ही कहता था न कि तुम मुझसे छोटे कवि हो!' और दुष्यंत भयंकर गंभीर होकर कहता—'हां, आज मैं तुम्हारे सामने अपना दावा वापस ले रहा हूं।' उन दिनों वह एक मशहूर कवि था और मैं साहित्य के अखाड़े में रियाज कर रहा था। वह कहता—'तू कहानी लिख दे, कमलेश्वर को भेज दे, मैं उसे खत लिख देता हूं।' और जब भी कहानी लिखकर उसे सुनाता तो या तो वह सो जाता या 'दो कौड़ी की है!' 'दो कौड़ी की है'···दो-तीन बार दोहराता।

भोपाल रहते वक्त उसके आक्रामक व्यक्तित्व के कारण मैंने अनेक बार चाहा कि मैं रोजाना उसके घर न जाऊं, लेकिन जाने क्यों मेरे पैर अपने आप उसके घर तक खिंचे चले जाते थे। कभी-कभी मुझे उसका और मेरा रिश्ता एक भेड़िए और मेमने के स्तर का लगने लगता···लेकिन एक बात मैं बता दूं कि मैं मेमना नहीं था···शायद एक प्ले-एक्टर ही था। मैं अपने आप को एक बेहतर और दुष्यंत को एक बुरे इनसान के तौर पर पेश करूं तो वह अपने तईं एक जबरदस्त बेईमानी होगी। उस आदमी के लिए, जो हमेशा यह कहा करता था—'सदन, साहित्य में और रिश्ते पालने में बेईमानी नहीं चल सकती।' सच तो यह है कि मेरे इस दोस्त के और मेरे व्यक्तित्व में शायद कोई ज्यादा फर्क नहीं है। मुझे ऐसा महसूस होता है कि इतनी जान और दमखम होने के बावजूद कहीं उसकी शिराएं भी उतनी ही कमजोर थीं, जितनी कि मेरी।

मैं उससे सन् 1965 के सितंबर से नौकरी के सिलसिले में अलग छिटककर खड़ा हो गया था। रायसेन, छिंदवाड़ा या धार से जब भी मैं उसके घर जाता वह तहमद लगाए बाहर आ जाता, सीने से लगा लेता और खाना खिलाकर ही विदा करता, क्योंकि उसे मेरे संकोची स्वभाव का पता था। इन दिनों भोपाल में वह अकेला सा पड़ गया था। वहां साहित्य के अखाड़े और वफादारी के समीकरण बदल रहे थे। वह किसी दोस्त की तलाश में था, जिसके सामने वह अपने दुश्मन को खूब गाली बक सके। वह बहुत कुछ लिखना चाहता था, अपनी थीम पर चर्चा करना चाहता था, दूसरों के साहित्य को दो कौड़ी का करार देना चाहता था, नई कहानी के जन्म की कहानी और उसमें अपने अहम रोल के बारे में बताना चाहता था। उसका व्यक्तित्व

एक आग के गोले के मानिंद था, जिसके पास जाने पर हाथ जल जाते हैं। लेकिन एक अजीब बात यह थी कि उसके पास जाने की ललक भी बनी रहती थी। उठापटक उसे बेहद पसंद थी, वह सीधी-सपाट राहों को पसंद नहीं करता था। ठंडे लोहे से गरम को काटने की कला उसे कभी नहीं आई। शायद उसका व्यक्तित्व इसका कायल नहीं था···।

दरख्तों के साये में झुलसा हुआ दुष्यंत

शरद जोशी

अब यह सवाल पूछा जा सकता है कि दुष्यंत क्या मरने के लिए भोपाल आया था? नदियों वाले शहर इलाहाबाद को छोड़ उसे इन गंदे तालाबों के शहर भोपाल में बसने की क्या जरूरत थी? जो बस्ती अफसरों के रहने के लिए बनाई गई हो, वहां कवि-लेखक बनकर सांस लेने की जोखिम उसने क्यों मोल ली? नतीजा यही हुआ ना कि वह घुटकर रह गया। था तो वह कवि ही, एक यारबाज, मनचला मूडी शख्स। उसने क्यों अफसर का बाना धारण किया, सारे टीमटाम जुटाए, कार, टेलीफोन, रिश्ते और जमाने भर की दुनियादारी। फिर सारा कुछ करके वह लौट-लौटकर कवि हो जाता था, बार-बार लिखता था और फिर अफसर हो जाता था। कभी मनुष्य, कभी शेर! ऐसा नरसिंह अवतार एकाध शाम किसी हिरण्यकशिपु को चीरने के लिए ठीक रहता है इस देश में। पर इसे अपना स्थायी इमेज बनाना आदमी क्या भगवान् के लिए भी संभव नहीं है। शेर या आदमी, अफसर या कवि, इन दो स्थितियों को एक साथ जीना मुश्किल है। जो सफलतापूर्वक जी लेते हैं, वे वास्तव में दोनों ही नहीं होते। देहरी पर बैठे नकली जीवन बिताना उनके लिए संभव होता है। दुष्यंत कुमार मूलतः ऐसा नहीं था। घर और जंगल के बीच एक तनाव को लंबे वक्त तक जीना उसके लिए कठिन था। उसके आसपास यारों की भीड़ रहनी चाहिए थी, तभी वह लाड़ले राजकुमार की हंसी और हठ के साथ लंबी उम्र जी सकता था। वक्त की चाल में अब यार-दोस्त भटक गए। जिन कमलेश्वर और मार्कंडेय की इलाहाबादी यादें लिए वह भोपाल के सरकारी वायुमंडल में जीता रहा, वे आज कितनी दूर भटक गए। भोपाल में दोस्त-यारी का जो विस्तृत भूगोल उसने पिछले वर्षों में विकसित किया था, वह विषैले नाइट्रोजन में एक आत्मीय ऑक्सीजन की तलाश थी। अपनी भागदौड़ में वह काफी कुछ सफल भी था, पर लंबे समय तक उस कवि के लिए एक तनाव को लंबे वक्त तक जीना संभव नहीं था। पिछले दिनों लिखी उसकी गजलें उसके मन में चल रही हलचलों की सच्ची दर्पण हैं। मृत्यु ही वह शरणगाह है, जहां उम्र भर के लिए, जाया जा सकता था और उसका चला जाना उसकी स्वाभाविक कविता थी।

भोपाल या मध्य प्रदेश इस काबिल नहीं कि इसके लिए कोई लंबी उम्र जिए? और क्या हिंदी साहित्य ही इस काबिल है कि इसके लिए जीया जाए? लिखते-लिखते अपने पर थूकने की तबीयत करती है। हमारे यहां कविताओं को प्रमाणपत्र के रूप में लेने का रिवाज नहीं है अन्यथा उसकी अंतिम दिनों की गजलें पढ़ वे लोग शर्म खाते जो स्थितियों के जिम्मेदार हैं। उच्च वर्ग अपने अभिनंदन की शकल में आने पर ही कविता को स्वीकार करता है। बरसों से यही चला आ रहा है। इसलिए इस देश में भारतेंदु से दुष्यंत तक 'अभिनंदन' का लेखन कर सकने में असमर्थ साहित्यकारों का लंबा जीवन जी लेना कठिन है। शरीर जहर से कब तक लड़ता?

दिसंबर के अंतिम दिनों की उस सुबह हम सब दुष्यंत के यहां गए। वह सो रहा था। उस शरारती, बातूनी, दोस्तबाज, लतीफापसंद शख्स के इस तरह चुपचाप सोए रहने की बात किसी के मन को जम नहीं रही थी। जिसने उसे देखा, वह अंदर से टूट गया। दूर-पास के सभी मित्रों ने दुष्यंत को जीवन भर प्यार और नाराजी में चुनिंदा गालियों से आभूषित किया है। और वह था कि हर गाली को इस मजे से लेता, जैसे सभा में गुलदस्ता भेंट किया जा रहा हो। उस सुबह भी हम उसे मन ही मन कोस रहे थे। इतनी जल्दी चले जाने पर कोस रहे थे। वह इतमीनान से लेटा था, जैसे दोस्तों के शहर जाने वाली एक्सप्रेस में उसे आरामदेह स्लीपिंग बर्थ मिल गई हो। अपने में खुश, एक दुधमुंहे शिशु की तरह निश्छल सोया हुआ था। सब दुखी थे। पर वास्तव में सब क्रोधित थे। एक अनबूझा प्रश्न हवा में तैर रहा था। क्या दुष्यंत सही था, हम सब गलत हैं? या हम सही हैं, दुष्यंत गलत था? शायद वह वहीं गलत था, जहां वह हमसे सहमत था। जिस देश में सारी जिंदगी एक कशिश को कोशिश बनाने में टूट जाती है, पता नहीं सार्थकता क्या है, सफलता क्या है? दुष्यंत व्यर्थ ही सार्थक जीवन को सफल जीवन बनाने की भागदौड़ में मुब्तिला हो गया। उसकी मनोरचना उन तंतुओं से नहीं हुई थी, जिनसे कामयाब नस्ल के आदमी बुने जाते हैं। गलत ताने-बाने में उलझकर रह जाना उसकी ट्रेजेडी थी। वह इस अन्याय से सारे संसार में गलत आकांक्षा की गलत सजा का शिकार हुआ। जिस ठाठ से जीने का ड्रामा वह करता था, उसमें निराशा के डायलॉग बोलना उसकी मंचनीति के विरुद्ध था, इसलिए वह अंदर से टूटने-बिखरने के क्षणों में भी रोया नहीं, व्यर्थ गरजता रहा, गालियां देता रहा, यह कर दूंगा, वह कर दूंगा, संभव नहीं था। सचिवालय से अकेले सिर टकराने से सचिवालय की दीवार नहीं टूटती, आप टूट जाते हैं। ऐसे में दोस्त के कंधे पर सिर टिका रो लेना या गजल लिख देना, एक नीति हो सकती है। दुष्यंत कंधे या गजल के लिए उपयुक्त मुहावरे तलाशता रहता

भी तो कब तक? और इस भोपाल में, जहां कंधे झटकते रहना, उचकाते रहना आम आदत है और 'वाह-वाह' करने के पूर्व हर दर्शक या श्रोता यह पता लगा लेता है कि शे'र पढ़ने वाला क्लास वन है या क्लास टू, गजेटेड या नॉनगजेटेड, और उसी के अनुपात में प्रशंसा करता है। ऐसे में दुष्यंत के साथ यह होता ही था, जो हुआ। दुष्यंत की मृत्यु की सुबह भी मुझे एक नजारा ऐसा दिखा, जो भोपाल के इसी निर्मम नकली व्यक्तित्व की पहचान कराता है। मुझ पर यह आरोप लग सकता है कि मैं हर समय व्यंग्य की सामग्री तलाशता हूं।

दुष्यंत की मृत्यु रात को हुई थी। सारी रात आंसू बहाते रहने के बाद परिवारजनों के लिए यह संभव नहीं था कि वे हर एक के घर जा सूचना देते। कुछ मित्रों को फोन से खबर दी गई, उन्होंने अन्य मित्रों को और इसी तरह बात शहर में फैली, सब दुष्यंत के निवास पर जमा होने लगे। स्थानीय आकाशवाणी ने सुबह की बुलेटिन में सूचना दी, जिसे सुन बहुत से आए। दुष्यंत का आत्मीय संसार इतना बड़ा था इस शहर में, और शहर ऐसा बेतरतीब फैला है कि इसके अलावा तरीका नहीं था। तब एक भूतपूर्व युवा कवि और आजकल अफसर अपनी कार में आया और आते ही दुष्यंत के दरवाजे के सामने खड़े अपने मातहम कर्मचारियों को, जिनमें एक उपन्यासकार और एक समीक्षक टाइप का प्राध्यापक था, डांटने लगा—'नो बडी इन्फार्म्ड मी, नो बडी इन्फार्म्ड मी।' मैंने रेडियो पर सुना। आप लोगों में से कोई मुझे फोन नहीं कर सकते थे? मातहत कर्मचारियों ने उससे क्षमा मांगी। फिर उस अफसर ने चारों तरफ खड़े लोगों को देखा और अपने स्तर का व्यक्ति तलाशने लगा, जिससे वह बातें करे। कोई नहीं मिला। उसके स्तर का न दुष्यंत था, न उसके मित्र। कुछ देर बाद उसे यह फिक्र सवार हुई कि सबको मेरी उदारता और महानता का पता लगना चाहिए कि मैं इस साधारण कवि और असिस्टेंट डायरेक्टर के छोटे से पद पर काम करने वाले शख्स की शवयात्रा में साहित्यिक वजहों से उपस्थित हूं। यद्यपि मेरा ओहदा बड़ा है। वह सबको बताने लगा कि मैं रेडियो की खबर सुनकर आया, नो बडी इन्फार्म्ड मी। पर इस कोशिश में वह असफल रहा, क्योंकि वहां खड़े दुष्यंत के मित्रों के दिल टूटे हुए थे और वे अपने कवि की मृत्यु के क्षण में किसी अफसर के सामने नम चमचा पोज लेने को तैयार नहीं थे। तब वह लौटकर फिर अपने साहित्यिक मातहतों के बीच खड़ा हो गया और उन्हें अपनी विदेश-यात्रा के किस्से इस संदर्भ में सुनाने लगा कि वहां कवियों के स्मृति-चिह्नों को वे लोग कैसे सुरक्षित रखते हैं। मातहत सुनते रहे। शवयात्रा से लौटने के बाद उसने स्टेनो को बुला दुष्यंत के लिए श्रद्धांजलि डिक्टेट कराई। वह धीरे-धीरे बोला—'उनका साहित्यिक अवदान

हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर है' और अपने इस वाक्य पर स्वयं मुग्ध हो जल्दी टाइप करके लाने का आदेश देने लगा। शाम को दुष्यंत के आत्मीय मित्रों द्वारा आयोजित एक शोकसभा में, जहां हर वक्ता दुष्यंत को मित्र संबोधित कर रहा था, जब आयोजकों ने सौजन्यतावश उस अफसर से भी बोलने के लिए कहा, तब दांत निपोरते हुए शोकग्रस्त सभा के सम्मुख खड़े हो उसने पहले वाक्य में यह जानकारी दी कि वे दुष्यंत के मित्र नहीं थे। अफसर महोदय की फिक्र यह थी कि कहीं लोग उन्हें भी एक साधारण असिस्टेंट डायरेक्टर का दोस्त न समझ लें। वे बोल रहे थे, अपनी नकली प्रांजल भाषा में और सामने जाजिम पर बैठा मैं पहचान रहा था। दुष्यंत की पंक्ति का अर्थ, 'यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है।' दरख्त तो हैं हमारे शहर में, बड़े-बड़े दरख्त, जिनकी जड़ें बड़ी मजबूत हैं। एक छत्र हैं वे दरख्त, जिनकी छाया में जीवन गुजारने की उम्मीद में एक कवि भटकता हुआ यहां आया था और इतने वर्षों साये में खड़ा झुलसता रहा। दरख्त रहेंगे भी। गजलें लिख लेने या व्यंग्य लिख लेने से इन दरख्तों का क्या बिगड़ता है। कुछ नहीं होता। कलम हाथ में लेने से कुछ नहीं होता। हिंदी में लेखन की पगडंडी आगे जाकर दो रास्तों पर खुलती है। एक रास्ता है, लिखना छोड़ दो और रोटी पाने की फिक्र में नौकरियों, प्रमोशनों के चक्रव्यूह में चले जाओ। दूसरा है, मृत्यु। दोनों फैशन आम हैं। दुष्यंत नौकरियों, प्रमोशनों के फेर में रहकर अपनी कविता को जीवित रखना चाहता था। एक जानदार और शानदार कोशिश थी, जो दुष्यंत जैसे जिद्दी और बेफिकरे आदमी को शोभा देती थी। उसकी कविताएं हमें निजी कविताएं लगती थीं और दुनियादार बनने की कोशिश में अपना मजाक बनाते जो लतीफे वह खड़े कर लेता था, वे भी खूब मजा देते थे। उससे असहमत कौन कब न हुआ, पर तब भी वह मेरा यार सबको करीब लगा। ऐसी समानांतर पटरियों पर पैर रखने, दौड़ने की क्रिया उसने अपनी चुनौती बना ली। पर इस देश में जहां एक सफलता मिलना भी नियामत है, दो सफलताएं प्राप्त करने की इजाजत कैसे मिल सकती है? निजी दर्द पर गजलें कहना और दूसरों को बेवकूफ बनाने की भागदौड़ में खुद बेवकूफ बनते रहने के बाद यदि लतीफे और कविता का किसी उच्च छोर पर संयोजन हो सकता है तो वह बिंदु असामयिक मृत्यु ही है। दो समानांतर पटरियों पर दौड़ता, थकता, फिर दौड़ता दुष्यंत एक क्षण अचानक ऐसे बिंदु पर पहुंच गया, जहां कविता एक ठहाके के साथ मृत्यु में बदल जाती है। मृत्यु के डेढ़ घंटे पहले तक भाईजान स्कूटर लिए बीवी को पीछे बिठाए दोस्तों के यहां मिलने-भटकने गए थे, फिर चौराहे तक अकेले घूमने गए, वहां उतनी रात भी किसी मित्र को तलाशते रहे। उस दिन मुझे मिला था तो बता रहा था कि

में एक दिन 'जय संतोषी मां' देख आया। मैं हंसने लगा। बोला, मैं रोज इस फिल्म के आसपास इतनी भीड़ देखता था तो सोचता था, साला मामला क्या है, लोग आखिर क्या देखने जाते हैं! एक बार काफी सारी एक्सपोर्ट की जाने वाली बीड़ियों के पैकेट्स मैं दोस्तों में बांटने को ले आया था। मैंने दुष्यंत से कहा—'घर आना, बढ़िया बीड़ियां पिलाऊंगा। वह सप्ताह में दो बार की गति से आया और सारी बीड़ियां फूंक गया, जेब में रख ले गया। पर कुछ दिन हुए जब आया, तब एक बीड़ी का बंडल मेरे यहां रख गया।' मैंने कहा, इसे ले जा तो बोला, यहीं रहने दे। तेरे यहां बीड़ी पीने वाले दोस्त आते हैं और तू बीड़ी रखता नहीं। कभी मैं ही आया तो पी लूंगा। पर फिर वह नहीं आया। दुष्यंत की शवयात्रा से लौट मैं घर में यहां-वहां वह बंडल ढूंढ़ता रहा। नहीं मिला।

कार, पद, टेलीफोन, उच्च राजनीतिक सरकल में मैत्री, स्कूटर दौड़ाते पेट्रोल फूंकना, इससे-उससे मिलना, दोस्तों में बैठना-बुलाना, पार्टियां देना, सूट पहनना, लकदक रहना, हर मामले की छुपी सतह को पकड़ना, भला कर देना, नौकरियां दिला देना, किसी भी मूर्ख का मनोबल बढ़ा उसे आसमान पर बिठा देना, मामला खड़ा कर तटस्थ हो जाना, तटस्थ रहते हुए उलझा देना, झगड़ आना, जिससे घनघोर लड़ाई चल रही है, उसके घर एकाएक पहुंच सरप्राइज देना, और वहीं बैठ उसे धमकाना या मना लेना, गायब हो जाना, लतीफे को सत्य घटना और सत्यकथा को लतीफा बना उड़ा देना, किसी अनजान पर मुग्ध हो उसकी प्रशंसा गाते रहना, हर पद के लिए अपने को उपयुक्त समझ प्रयत्न में लग जाना और इन सबके साथ बार-बार लौटकर कविताएं या गजल लिखना, अपने बच्चों पर प्यार उड़ेलते हुए अति कर जाना, निरंतर दोस्तों को याद करना, बल्कि साहित्य को कुल मिलाकर चंद दोस्तों और दुश्मनों की गतिविधियों से अधिक न मानना और इस सबके बावजूद किसी श्रेष्ठ और महान् लेखन के सपने संजोना, दुष्यंत का स्वभाव था। मेरी इस बात पर वह बड़ा प्रसन्न होता था कि तू कविता समाप्त करते ही गुंडा हो जाता है। मेले में एक बच्चा हाथ में झुनझुना ले दौड़ता फिरे। वह झुनझुना बजाने का निजी आत्मिक सुख लेने के साथ लोगों को यह बताने को भी उतावला हो कि उसके हाथ में झुनझुना है, कुछ ऐसा मिजाज था भाई का। कविता उसके लिए वही झुनझुना थी, जो उसे आत्मिक सुख भी देती थी और उसके लिए प्रदर्शनी की वस्तु भी थी। जो प्रदर्शनप्रिय दुष्यंत से असहमत थे, वे दुष्यंत को कवि नहीं मानते होंगे; पर वे नहीं जानते कि वह कोमलमन शिशु तुम्हें दिखाने के लिए ही नहीं, अपने आत्मिक सुख के लिए भी वह नाद उत्पन्न कर रहा है। उसकी आकांक्षा थी कि यह झुनझुना देखकर, सुनकर

जो उसके इर्द-गिर्द जमा होंगे, उनमें से वह जीवन जीने के लिए चार मित्र तलाशेगा। यह मासूम तलाश ही उसका अपराध था। वह झुनझुना आपको सौंपने को राजी नहीं था। उसे छुपाकर घर में रख बजाने को उसका मन नहीं मानता था। इसी मेले में घूमते जमींदार के नातियों को एक किसान के बच्चे की यह ठसक कैसे सुहाती? वे उस पर प्रहार करने लगे और अपने अंतिम क्षण तक झुनझुना बजाने का अधिकार न छोड़ दुष्यंत मुट्ठियां कसे मर गया। वह चीखा नहीं, हंसता रहा। उसे शायद भ्रम था कि अंततः जमींदार का नाती भी उसका मित्र हो जाएगा। उसी निश्छल भोली मृत्यु को अपनी आंखों से देख दिसंबर की धूप में हम घर लौट आए। अपनी-अपनी जगह बैठ इस निर्मम, हत्यारे हिंदी साहित्य की सेवा करने।

दुष्यंत : मेरा दोस्त

रवींद्रनाथ त्यागी

दुष्यंत से मेरी मुलाकात 1946 में हुई थी। मैंने भी उसी स्कूल में दाखिला लिया था, जिसमें दुष्यंत ने। तीन साल तक हम लोग साथ रहे। उन दिनों उसका पूरा नाम था—दुष्यंत नारायण त्यागी और मेरा था—रवींद्रनाथ। हाईस्कूल का फॉर्म भरते समय मैंने उससे कहा कि अपने नाम में से 'नारायण' निकाल दो। 'दुष्यंत कुमार' ज्यादा आकर्षक नाम रहेगा। वह मान गया, मगर एक शर्त पर और वह यह कि मैं अपने नाम के साथ त्यागी जोड़ लूं। इसके बाद मैं हो गया—रवींद्रनाथ त्यागी और वह हो गया—दुष्यंत कुमार। प्यार में हम सब लोग उसे 'दुश्शी' कहा करते थे।

दुष्यंत बड़ा सुंदर लगता था। एकदम भूरा, छोटी-छोटी आंखें और मोटे-मोटे गाल। खेलने-कूदने का कोई शौक हम दोनों को नहीं था। हां, साहित्य से, खासकर देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों से, हम दोनों इश्क रखते थे। वह उन दिनों भी उतना ही हंसमुख, साफ, शरारती और लापरवाह था, जितना कि बाद में।

हाईस्कूल के बाद हम लोग दो वर्ष के लिए अलग-अलग हो गए। वह जहां गया, वहां पढ़ाई के साथ एक छोटी सी पत्रिका का संपादन भी करने लगा। मेरी प्रथम कविता उसने छापी।

इसके बाद हम दोनों प्रयाग विश्वविद्यालय में फिर साथ हो गए। दोनों के पास हिंदी थी। डॉक्टर रसाल जब 'शिवराज भूषन' पढ़ाते थे तो वह उनकी ओर देख-देखकर मुंह बनाया करता था और शायद एक बार पकड़ा भी गया था। अब उसमें कुछ आवारगी आ गई थी—कलाकारों वाली स्वाभाविक आवारगी। कुर्ता, पायजामा, वास्कट, काली शेरवानी, सभी वस्त्र उसके भरे-पूरे जिस्म पर अच्छे लगते थे। लड़कियां उससे काफी प्रभावित रहती थीं और इस बात के कहने पर दुष्यंत बिल्ली जैसी चमकदार आंखें दिखाकर हम लोगों को डराने की कोशिश किया करता था।

प्रयाग में हम लोग कई साल साथ-साथ रहे। सुमित्रानंदन पंत से मिलने मैं पहली बार दुष्यंत के साथ ही गया था। 'परिमल' के जूनियर मेंबर भी हम साथ ही साथ रहे। इसके बाद फिर बिछुड़ गए।

नौकरी मिलने के बाद मेरी नियुक्ति सबसे पहले मेरठ हुई। दुष्यंत अचानक वहां आ गया; वह शायद दिल्ली में रेडियो में आ गया था। दिल्ली से मेरठ; रोज-रोज का सफर। एक और साथी रामनिवास शर्मा मेरठ में डिप्टी कलेक्टर थे। हम तीनों की फिर छनने लगी। दुष्यंत ने एक बार मुझे काफी कसते हुए कहा कि अब तुम अफसर हो गए; अब तुम्हारा साहित्य से क्या वास्ता? कुत्ते पालो और 'वुडहाउस' पढ़ो। मैंने वादा किया कि मैं लिखूंगा और आखिरी दम तक लिखूंगा। मेरी किताबें छपने पर उसे बड़ी खुशी हुई। इसके बाद हम लोग फिर उखड़ गए।

फिर दुष्यंत मध्य प्रदेश में खो गया। कभी कहीं मुलाकात हो गई तो फिर वही पुरानी मस्ती। उस इनसान में कोई चीज ऐसी थी, जो हर एक इनसान में नहीं होती। उसमें काफी कमियां थीं, पर वे उसकी एक हंसी से ढक जाती थीं। उसका दिल भी बड़ा था और बांहें भी···

इस बार दुष्यंत ऐसा गया कि फिर मुझे कभी नहीं मिलेगा। नहटौर का दुष्यंत, प्रयाग का दुष्यंत, कवि दुष्यंत, दोस्त दुष्यंत, चालाक दुष्यंत, भोला दुष्यंत—न जाने कितने दुष्यंत एक साथ खो गए। मरना सब को है, पर उसका एक वक्त होता है। मगर दुष्यंत बेवक्त ही चला गया। वक्त की पाबंदी न उसने जीने में की और न मरने में।

वह एक वटवृक्ष

प्रेम त्यागी

उनतीस-तीस की रात। पत्नी झकझोरती है—सुनो, आलोक (भतीजा) और अर्चना (भतीजी) आए हैं—भाई साहब की तबीयत खराब है। मैं गहरी नींद से जागकर तुरंत कपड़े पहनने लगता हूं। घड़ी देखता हूं···सवा तीन! मैं चौंक उठता हूं। जरूर कोई गंभीर बात है। नहीं तो इस समय बच्चे मेरे पास नहीं आते। छोटी-मोटी बीमारी तो भैया चुटकियों में उड़ा देते हैं। ठीक एक महीने पहले की घटना मेरी आंखों के सामने कौंध जाती है। भैया गांव से लौटे थे। अगले रोज मेरे पास आए थे। भाभी भी साथ थीं। चेहरे पर वही परिचित मुस्कान लिए बोले थे—"मुन्नू जी! दिल्ली से लौटते समय तो मैं मरते-मरते बचा। मैं जब रिजर्वेशन कराकर लौट रहा था, तो अजीब सी बेचैनी होने लगी। किसी तरह मैं अपनी बर्थ पर आकर लेट गया। जब मुझे लगा, हालत ज्यादा खराब है, मैंने अपना नाम-पता लिखकर एक चिट सीने पर रख ली। मान लो, कुछ हो गया तो लोग घर तक तो पहुंचा देंगे। 'हार्ट अटैक न हो'—मैं शंका प्रगट करता हूं। उनकी लापरवाही की आदत के कारण मैं अगले दिन की छुट्टी भी ले लेता हूं कि इन्हें अस्पताल ले जाऊंगा। उस दिन न मैं उन्हें ले जा पाया और न वे गए। कुछ दिन बाद उन्होंने बताया—'ई०सी०जी० कराया था। रिपोर्ट एकदम नॉर्मल है। वो तो गैसेज का दर्द था।' मैंने आदत के खिलाफ उनकी बात पर पूरा यकीन कर लिया।

ज्यों-ज्यों भैया का घर पास आता जाता है, मैं एक अनजाने डर से सिहरने लगता हूं। यहां तक कि मैंने अर्चना से यह भी नहीं पूछा कि उन्हें बीमारी क्या है? मैं भैया के पास जा रहा था और बीमारी के नाम से डर रहा था। आशंका कहीं सच न हो, इसे झुठलाने का इसके अतिरिक्त कोई और रास्ता भी नहीं था लेकिन घर पहुंचकर आशंका को सच होते हुए नहीं, कड़ुवे सच के रूप में देखा। मैं भैया की नब्ज टटोलता हूं···सांस टटोलता हूं···फिर हताश भाव से आलोक की तरफ देखता हूं। दरवाजे से टिका आलोक ठंडे स्वर में इतना ही कह पाता है—'चाचा जी, मुझे भी लगता है कि···उसे भी लगता है कि···मुझे भी लगता है कि···अब?'

जाने कैसे भैया की एक पंक्ति याद आ गई···एक बाजू उखड़ गया जब से···बहुत देर तक यही पंक्ति दिमाग में घंटे की तरह बजती रही। खाली निगाहें लिए हम लोग कभी एक-दूसरे की तरफ देखते, कभी भैया की तरफ। और तभी जैसे कल का मुन्ना एक बुजुर्ग हो गया।

सोचता हूं तो खुद पर आश्चर्य होता है। इतना बदल गया हूं मैं? सन् साठ या इकसठ की बात होगी। मैं तब बी०ए० में पढ़ता था। भैया तीन महीने बाद भोपाल से मेरठ आए थे। उन्हें अकस्मात् आया देख मेरी खुशी हिचकियों में फूट पड़ी थी। आलोक, अर्चना अब तक इस घटना को लेकर मजाक करते रहे। लेकिन भाग्य की विडंबना को क्या कहूं? जब सचमुच में रोने का वक्त आया तो दो आंसू भी नहीं बहा सका।

भैया नहीं रहे···आज भी यह मानने को मन ही नहीं करता। ऐसी सोफिस्टिकेटेड बीमारी उस लुंगी-कुरता पहनने वाले अलमस्त कड़ियल आदमी को नहीं हो सकती। संघर्षों और चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार करने में सदा तत्पर भैया इतनी जल्दी हार मानकर चले गए हैं—कैसे मान लूं? आखिर मैंने भी अपने बचपन से लेकर अब तक उनको निकट से देखा है, समझा है। जानता हूं, मौत हरेक के पास आती है, पर उसके आने के कुछ ठोस कारण जरूर होते हैं। ऐसी अविश्वसनीय और अबूझ मौत पर कैसे यकीन करूं? सब कुछ जानते हुए भी मन है कि नहीं मानता। मैं डॉक्टर के शब्दों को सुनने से लेकर चिता में अग्नि दिए जाने तक भैया के साथ रहा, फिर भी कहीं कुछ है जो उस घटना पर यकीन नहीं करने देता। उनकी तेरहवीं की रात में, ठीक उसी समय, जिस समय कि मैं 30 दिसंबर को अपने घर से भैया के घर गया था, मैंने एक स्वप्न देखा···भैया का स्कूटर रुका है। वे बड़े मूड में सीटी बजाते हुए आए हैं। जब कभी उनको कोई सुखद उपलब्धि होती तो वे दो मुद्राओं में मेरे घर आते। या तो वे नीचे से ही हलकी सीटी बजाते आते या अगर मैं बरामदे में खड़ा उन्हें देख रहा होता तो नीचे गर्दन किए मुस्कराते हुए ऊपर आते। मैं सीटी की आवाज से उठने लगता हूं तो पत्नी रोकती है···शायद डरवश, और मुझे पूछती भी है कि कौन है···तभी भैया दरवाजा खटखटाते हैं···भैया हैं, कहकर मैं दरवाजा खोलने चल पड़ता हूं। वे ही हैं, आश्वस्त होकर मैं गद्गद हो उठता हूं। हम दोनों आमने-सामने बैठने लगते हैं कि भैया पूछ डालते हैं—'मुन्नू जी, तुम तो डर गए होंगे कि मेरा प्रेत कहां से आ गया?' मेरा जवाब था—'अरे, मैं नहीं डरा-वरा। आपके झटकों को मैं खूब जानता था लेकिन यह तो बताइए आपने अपनी जगह किसे लिटाया था—शक्ल तो हू-ब-हू आपकी ही थी···'

मैं आत्मा-वात्मा में विश्वास नहीं करता, लेकिन उस आदमी को कैसे झुठला दूं, जो स्वप्न में भी अपनी मौत का यकीन नहीं होने देता। जिसका हट्टा-कट्टा शरीर, हंसमुख चेहरा हरदम आंखों के सामने आकर खड़ा हो जाता है और पूछता है—क्या तुझे भी यकीन है? मैं कोशिश करता हूं भैया के अतीत में झांकने की, शायद कहीं कोई प्रमाण मिल जाए, जिसके सहारे मैं अपने अविश्वास को विश्वास में बदल सकूं, पर मैं निराश ही लौटता हूं, उनके छोड़े प्रमाण भी धोखा दे जाते हैं, वे भी उन्हीं की गवाही देने लगते हैं। मैं उनके शब्दों, वाक्यों से उलझता हूं, वे भी यही कहते हैं—क्या दिक्कत है? अरे, ये भी कोई काम है···हो जाएगा। मैं उनकी डायरी देखता हूं। उसमें ही कुछ मिलेगा। बहुत कुछ मिलता भी है···जीवन का भरपूर उपयोग···आत्मदान का सुख···सर्जनात्मक बेचैनी···बंधनों से मुक्ति की छटपटाहट···पराजय और न शब्द वहां भी नहीं है। यही नहीं, उस कमबख्त दर्द के लिए, जो उन्हें एक महीने पहले दिल्ली से लौटते हुए हुआ था, सिर्फ दो पंक्तियां हैं। और वहां भी उसके अस्तित्व को झुठलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'गैसेज के कारण बहुत तेज दर्द हुआ।'

दर्द हो या दर्द का कारण हो, उसकी उपेक्षा को भैया ने अपने जीवन का सूत्रदर्शन माना। शत्रुओं से लेकर व्यक्तिगत घटना-प्रसंगों तक में वे इस सूत्र को अपनाए रहे। ध्यानसिंह तोमर 'राजा' नवभारत (भोपाल का एक दैनिक अखबार), के रविवारीय अंक में उनके खिलाफ नियमित रूप से लिखते थे। एकाएक उन्होंने उनके खिलाफ लिखना बंद कर दिया। मिलने पर भैया ने 'राजा' से शायद यही कहा—'क्यों बे मोटे! आजकल तू मुझे याद नहीं करता, क्या नाराज हो गया है?' जहां तक मुझे स्मरण है, इस घटना के बाद दोनों के बीच खुलकर बातें हुईं और राजा ने उनकी ज़िंदादिली की बड़ी दाद दी थी।

शत्रुओं और निंदकों के साथ भी वे इसी व्यवहार को दोहराते। बहुत जरूरी हुआ तो उनकी अंतरंग परतों को उधेड़ देने वाला एकाध वाक्य छोड़ देते। दुष्यंत परेशान क्यों नहीं है? सोचकर वे और नाराज होते। पीछे गाली देते, सामने बोलना बंद कर देते। लेकिन भैया ने किया कुछ भी हो, कभी व्यवहार-दारिद्र्य प्रदर्शित नहीं किया।

शांत बैठना, सीधी-सरल जिंदगी जीना उन्हें नापसंद था। भोपाल के साहित्यिक जीवन में कभी शांति होती तो लोग बेसाख्ता कह उठते—शायद दुष्यंत कुमार गांव गए हुए हैं। बच्चों की तरह से कुछ न कुछ करते ही रहते थे। और कुछ नहीं तो छोटा-मोटा हंगामा ही सही। *कोई हंगामा करो, ऐसे गुजर होगी नहीं* पंक्ति मानो उन्होंने खुद को लक्ष्य करके ही कही थी। उनके हंगामों से कुछ लोग नाराज होकर दुश्मन बन जाते, कुछ लोग खुश होकर करीब हो जाते। इन हंगामों की वजह से

उनसे कटने-जुड़ने वालों का सिलसिला कुछ वैसा ही था, जैसा ट्रेन से उतरने-चढ़ने वालों का होता है। मैंने प्रायः देखा, ऐसे क्षणों में करीब आए लोगों से उनके संबंध एक सीमा तक ही होते। उनके अंतरंग मित्रों का दायरा इससे अलग, बिलकुल अलग होता।

भैया मूडी और शौकीन तबीयत के आदमी थे। सिगरेट, सुरा, सुंदरी से लेकर खेती करने तक का हर शौक उन्होंने पूरा किया। एक के बाद एक कई कारें बदलीं। और जब उनके पास करने के लिए कुछ नहीं होता, तो लोगों को अपनी प्रयोगशाला में बनी शराब पिलाते। स्कॉच की बोतल में ब्लैक नाइट, ब्लैक नाइट की बोतल में पानी मिली रम, वोदका की बोतल में सौंफ (म०प्र० की देशी शराब) का रेडीमेड स्टॉक उनके पास तैयार रहता। उनके प्रयोग का शिकार एक बार मैं भी हुआ, उन्हें मालूम था। मैं देशी नहीं लेता हूं। बोले—'मुन्नू जी! वोदका पियोगे? भला वोदका का लालच कैसे छोड़ देता? मैंने पी और खूब तारीफ की। अगले दिन मालूम हुआ मैंने वोदका के नाम पर सौंफ पी थी।'

योजनाएं तो उनके पास अनंत थीं। कल इंडस्ट्री डाल रहे हैं तो आज रेडीमेड कपड़ों का बिजनेस करने के लिए बिलकुल तैयार बैठे हैं। गरज ये कि खाली बैठना उन्हें गवारा नहीं था। वे घर में हों या दफ्तर में, प्रायः व्यस्त रहते। मिलने वालों और काम कराने वालों से घिरे रहते, कभी किसी के लिए सिफारिशी परचा लिख रहे होते, कभी टेलीफोन कर रहे होते। वे गांव जाते। वहां भी उनका दरबार लग जाता। किसी का डिप्टी साहब से काम है तो किसी का दरोगा जी से। किसी के लड़के को नौकरी चाहिए तो किसी को ट्रांसफर। उनके पास हर मर्ज की दवा थी। रोगियों को उन पर यकीन था। जरूरी नहीं था दवा असर करे ही। मगर बहुत से रोगी दवा लेते ही ठीक हो जाते। तभी तो लोग फौजदारी से लेकर घरेलू झगड़ों तक के लिए उनके पास आते।

शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक की भांति भैया भी हर रंग में जिंदादिली से जिए। पिताजी अकसर एक शे'र कहा करते थे—*जिंदगी जिंदादिली का नाम है, मुर्दादिल क्या खाक जिया करते हैं।* मुझे फख्र है कि उनके लड़के ने उनकी भावना की पूरी-पूरी कद्र की। भैया ने जिंदगी को भरपूर जिया, पूरे ऐश्वर्य से जिया। अपनी मरजी से जिया। वे बने-बनाए रास्ते पर नहीं चले। लीक (रास्ता) से हटकर चले। व्यवस्था और क्रम से उन्हें नफरत थी। ये उनका सिद्धांत नहीं, स्वभाव था। उनके हमउम्र नौजवान जब भविष्य बनाने में जुटे हुए थे, तब वे कविता का दरवाजा खटखटा रहे थे। जब लोग-बाग बाल-बच्चों की चिंता कर प्लॉट खरीदने और

मकान बनवाने में लगे थे, वे कविता में गजलों का नया प्रयोग कर रहे थे और संप्रेषणीयता की समस्या पर ठोस सर्जनात्मक काम कर रहे थे। चार आदमियों की जिंदगी, वह भी सिर्फ 42 वर्ष की उम्र में, अकेले उन्होंने जी ली। पिताजी की इच्छा थी, वे वकालत करें या पुलिस में भरती हो जाएं। भैया ने दोनों ही काम नहीं किए। उन्होंने बिलकुल अलग राह चुनी—कविता की राह।

कविता उनके लिए अस्तित्व से भी अधिक महत्त्व रखती थी। उसके साथ वे पूरी ईमानदारी से पेश आए। उसके लिए उन्होंने कभी नकली मुद्राओं और मुखौटों को नहीं स्वीकारा। उनकी कविता अनुभूति की सच्चाई और प्रामाणिक जानकारी की कविता है, उसकी भाषा के तेवर नकली नहीं हैं।

अपने कवि की जरूरतों को पूरा करने के लिए ही उन्होंने जिंदगी को उस जोखिम के साथ जिया, जिससे कि दूसरे अकसर कतराकर निकल जाते हैं। वे चाहते तो आसानी से इसकी जगह दूसरे शब्द-समझौते को स्वीकार कर सकते थे। जबकि दुनियादारी का तकाजा भी आज यही कहता है, फिर क्या वजह थी कि अपेक्षित दुनियादारी के बावजूद वे समझौतों से बचते रहे? हर बार सोचने पर मेरा निष्कर्ष एक ही रहा कि उनका कवि उन पर हावी था, वह जैसा चाहता, कराता। प्रायः ऐसा होता कि वे तट पर बैठे नदी के प्रवाह और अथाह जल से भयभीत होते रहते और उनका कवि, अथाह जलराशि में उतर चुका होता। वे डरते, ये कहीं डूब न जाए। वो तब तक नदी पार कर चुका होता या शंख-सीपियां और घोंघे बटोरकर वापस आ चुका होता।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उसकी दोस्ती इस कवि से और अधिक प्रगाढ़ होती चली गई। वे पहले थोड़ा-बहुत डरते थे, लेकिन इस कविमित्र ने उन्हें एकदम निर्भीक बना दिया। किसी अफसर या मंत्री से मनमुटाव होता या ऐसा ही कोई वाकया होता, भैया एक बार चुप हो जाते। यह सोचकर जिंदगी में तो ऐसा होता ही रहता है। उनका कवि सजग प्रहरी की तरह चुपचाप सारी प्रतिक्रियाओं को नोट करता चलता और अवसर की प्रतीक्षा करता रहता कि दुष्यंत अकेले में मिलें तो मैं उसे समझाऊं। वह समझाता और वे कनविंस हो जाते। अगले दिन मिलते तो कहते 'बहुत हो गया,' 'दो-चार हाथ लगा ही दें,' 'अब तो मार ही दें।' कोई कुछ कहे, इससे पहले वे अपने अभियान में जुट जाते। कोई उनके साथ है या नहीं, इसकी चिंता उन्हें नहीं रहती। वे अकेले ही अभिमन्यु की तरह लड़ते जाते। दबाववश पीछे हटना या पराजय स्वीकार कर लेना, उन्होंने कभी नहीं सीखा। वे हारने लगते तो उनका सहजन (कवि-लेखक) सक्रिय हो जाता ('आंगन में एक वृक्ष',

'साये में धूप', काव्य-कथा आदि रचनाएं ऐसे ही क्षणों की देन हैं) जीत जाते तो व्यक्ति दुष्यंत कुमार त्यागी गर्वित, अहंकार की सीमा तक नहीं, हो उठता। एक खास बात और कि इन सारे संघर्षों के बावजूद वे चेहरे पर एक भी विकृत रेखा नहीं आने देते थे। अगर मैं यह कहूं कि अपने पर ऐसा नियंत्रण, मैंने किसी और आदमी में नहीं देखा तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। मेरी नजर में इसका एकमात्र कारण सिर्फ यही था कि वे अपने हरेक कड़वे-मीठे अनुभव को अपने सहजन को सौंपते चलते थे। उनके कभी न टूटने और सदा तरोताजा रहने का असली राज यही था।

अजीब आदमी थे वे। अपने ही दर्द का मजा लेते। अपने आप से ही निर्मम मजाक करते। मुझे वे दिन अच्छी तरह याद हैं, जब वे सस्पेंड थे और कार में घूमते थे। लोग ताज्जुब करते, उन्हें मजा आता। लोग पूछते—'क्या हाल है?' वे कहते—'अभी एक उपन्यास पूरा हुआ है। कुछ दिन और सस्पेंड रहा तो दूसरा भी लिख डालूंगा।'

भैया ने जो किया, ठीक मानकर किया। उन्हें जो मिला, उसे सहज रूप में स्वीकारा, उस पर कभी अफसोस नहीं किया। वे न कभी अतीत पर पछताते, न कभी भविष्य के लिए चिंतित हुए। वर्तमान से बड़ा उनके लिए कुछ नहीं था। इसलिए वे अच्छा-बुरा सब कुछ सहज ढंग से स्वीकार करते चले गए। परिणाम की चिंता में उन्होंने रुपहले, सुनहले क्षणों को अभी हाथ से गंवाया नहीं। यों जिंदगी की किताब बहुत बड़ी है, पर उन्होंने यथासंभव हर पृष्ठ को पढ़ने की सफल-असफल कोशिश जरूर की। हर नई चीज के लिए वे बच्चों की तरह ललकते। दस झूठ-सच बोलते और पाने की कोशिश करते। इसी तरह हर नए आदमी से बड़ी आत्मीयता से मिलते। बड़ी तेजी से करीब आते। और जब यह जान जाते कि सामने वाला एकदम खोखला है, वे कुछ नहीं पा सकेंगे, तेजी से पीछे हट जाते। जिंदगी में वे जो कुछ भी तलाश करते रहे हों, उसके लिए महानगर से कस्बे तक, शहर से लेकर गांव तक, अमीर से लेकर गरीब तक भटके।

भीतर अनुभवों की समृद्धि, बाहर पुरुषोचित सौंदर्य, बातचीत का सलीका, ये ऐसी बातें थीं कि उनका व्यक्तित्व चाहे-अनचाहे अमरबेल की तरह दूसरों पर छा जाता। यह उनका गुण भी था, दुर्गुण भी। इस विचित्र विरोधाभास पर कुछ लोग चकित होते, कुछ अभिभूत, कुछ पीड़ित। उन्हें समझ लेने वाले करीब हो जाते, न समझने वाले बिजली से लगे धक्के की भांति चौंक उठते। दरअसल उनके व्यक्तित्व की रेखाएं कभी साफ, सरल, सपाट दिखलाई देतीं कि उसे सरलीकृत करके देखने की कोशिश असफल हो जाती। इसलिए उनके संबंध में कोई निर्णय अंतिम नहीं

हो पाता। उनमें एक ओर जीवन की अदम्य ऊष्मा थी तो दूसरी ओर विश्वास की हद तक पहुंचने वाला ठंडापन भी था। साधारण प्रेम-प्रसंगों पर किशोरोचित भावुकता थी तो वर्षों से चले आ रहे संबंधों पर बौद्धिक तटस्थता भी थी। इसलिए कभी उनका व्यक्तित्व कांच सा पारदर्शी लगता, कभी भूलभुलैया सा दुर्गम। इस अबूझ पहेली को समझने का भ्रम बहुतों को हो सकता है। लेकिन सही हल हम कम लोग ही निकाल पाए।

भैया विचित्र थे। अपनी कमजोरियों को वे खुलेआम स्वीकारते ही नहीं, प्रदर्शित करने में भी नहीं झिझकते थे, पर यदि किसी ने उनकी इच्छा के खिलाफ उनकी कमजोरियों को उन्हें समझाना या उनसे मनवाना चाहा तो वे तत्काल बिफर उठते। एक तरह से उनकी दोस्ती की यह शर्त थी कि आप उनकी गलत बातों को सही मानकर चलें या उनमें हस्तक्षेप न करें।

अपने संबंध में बातें चलने पर भैया केवल इतना ही कहते, 'मैं बहुत गलत समझा गया आदमी हूं।' इससे आगे अपने को निर्दोष सिद्ध करने या दूसरों की राय में हस्तक्षेप करने की कोशिश कभी नहीं की। म०प्र० के लेखकों पर 'सारिका' में उन्होंने जिस बेबाकी से लिखा, उसी बेबाकी से अपने पर शरद जोशी का लिखा छपाया भी था। बहुत करीब रहने पर भी मैंने उन्हें सही समझा या गलत, नहीं कह सकता। हां, इतना जरूर कह सकता हूं कि खंड-खंड करके देखने पर उन्हें सही नहीं समझा जा सकता था। जिन्होंने ऐसा किया, वे वापस लौट गए। जिन्होंने उन्हें समग्र रूप में देखा या देखने की कोशिश की, वे पास आ गए। उनके लिए वे बहुत प्यारे आदमी, बहुत अच्छे दोस्त, बड़े दिलचस्प साथी थे।

भैया ने अपने लिए गलत-सही, भूत-भविष्य, अच्छे-बुरे की चिंता नहीं की। शायद इसी वजह से मेरे लिए चिंतातुर रहे। जब मैं एम०ए० में पढ़ रहा था, तब वे रेडियो की नौकरी में थे। भगवंत देशपांडे का छोटा सा क्वार्टर उनके पास था। उन दो वर्षों में उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं किया? मेरी पढ़ाई का नुकसान न हो, यह सोचकर वे शाम को घर नहीं बैठे। बाद में भी, मेरी समस्याएं उनकी समस्याएं होतीं, मेरी चिंताएं उनकी चिंताएं होतीं। अगर मैं दुखी हुआ, प्यार से, डांट-फटकार से समझाने की कोशिश करते, लेकिन खुद मेरे जाने के बाद रोते। मेरे अहित चिंता को उन्होंने कभी क्षमा नहीं किया। मेरे दोस्त, उनके अनुज, मेरे दुश्मन, उनके दुश्मन थे। हमारे संबंधों का यह ऐसा भावात्मक पक्ष था, जिसके कारण मैं अनचाहे उनके कई गलत कामों में मूक या सक्रिय सहयोगी बन जाता।

भैया को चाहने के मेरे अपने कारण थे और मुझे चाहने के उनके अपने

कारण थे। एक-दूसरे से बिलकुल अलग। खून का रिश्ता, बड़प्पन आदि कई कारणों में वे मुझे अजहद चाहते रहे होंगे। पर मैं इसके पीछे महेंद्र भैया (उनसे बड़े भैया) को ही देखता हूं। उनके असमय चले जाने की पीड़ा को भैया ने अपनी आदत के मुताबिक कभी कहा नहीं, परंतु एक घटना को बहुत डूबकर सुनाया करते थे—किसी 'हीरोइक स्टोरी' की तरह। वे मुजफ्फरनगर में सातवीं में पढ़ते थे और महेंद्र भैया दसवीं में। एक दिन ड्राइंग मास्टर ने दुष्यंत भैया को 'अरे, फैटर के भाई फैटर' कहते हुए दो-चार तमाचे लगा दिए। भैया सीधे बड़े भाई के पास गए और अड़ गए—जब तक उससे बदला नहीं लेगा, मैं स्कूल नहीं जाऊंगा। ऊंचे-पूरे, हृष्ट-पुष्ट महेंद्र भैया की उम्र तो सोलह वर्ष की थी, लेकिन मेधावी, शालीन, किंतु दबंग छात्र के रूप में धाक थी। किसी तरह आश्वासन देकर भैया को उन्होंने शांत किया। रात को ही भैया को मालूम हो गया कि उनके शत्रु मास्टर पर दो-चार हाथ साफ हो गए हैं। इस घटना के कुछ दिन बाद ही महेंद्र भैया की उस समय मृत्यु हो गई, जब वे बहत्तर स्कूलों की वाद-विवाद प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ वक्ता का पुरस्कार लेकर खुशी-खुशी मुजफ्फरनगर लौट रहे थे, तो स्टेशन को देखने लिए दरवाजे से बाहर झांका ही था कि सिर रेलवे सिग्नल से टकरा गया।

ऐसे बड़े भाई के अचानक उठ गए साये को उन्होंने कैसे बर्दाश्त किया होगा, मैं नहीं कह सकता। इतना जरूर कह सकता हूं कि मेरे अहं को लेशमात्र भी ठेस पहुंचाने वालों को उन्होंने कभी नहीं बख्शा। वह साया उन्होंने मेरे ऊपर सदा बनाए रखा। गर्मी हो या सर्दी, उनका साया मेरे मकान से कभी नहीं हटा।

उनके-मेरे संबंध सिर्फ बड़े-छोटे भाई के ही नहीं थे, किसी हद तक दोस्ताना भी थे। हम लोग साथ बैठकर दारू पीते, एक-दूसरे के दुःख-दर्द में साझेदारी करते। कई बार ऐसा हुआ कि मैंने उनकी गलतियों पर उंगली रखी और उन्होंने चुपचाप मान लिया। बात सिर्फ एक प्यारे दोस्त, एक आकंठ स्नेह में डूबे भाई के बिछुड़ने तक ही सीमित नहीं है। मेरे लिए तो भैया ने पिता की भूमिका को भी उतनी ही ईमानदारी से निभाया, जितनी कि एक पिता निभा सकता है। गांव के झगड़े-झमेलों से संबंधित कोई खत आता, भैया चुपचाप रख लेते। मेरे पूछने पर बस इतना कह देते, 'माताराम का खत है, क्या करोगे पढ़कर—तुम खामखाह चिंतित होगे, मैं अगले महीने गांव जाऊंगा, सब ठीक-ठाक कर दूंगा।'

भैया नहीं रहे—एक वटवृक्ष नहीं रहा, जिसे खुद तो साये में धूप लगती थी, लेकिन उसके साये में घर-गांव और परिचित समुदाय के न जाने कितने लोग आश्रय पाते थे! भैया के व्यक्तित्व की यह विशालता मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से

नुकसानदेह थी। हितैषी मित्रों के शब्दों में--'इस विशाल वटवृक्ष के पास तुम्हारे व्यक्तित्व का पौधा कभी पनप नहीं पाएगा।' बात सौ फीसदी सही थी। मैं स्वीकार की मुद्रा में केवल इतना कहता--यार, जब फायदा उठाने के लिए मैं हूं तो नुकसान उठाने के लिए कौन आएगा। अनजाने ही मुझे बहुत बड़ी हानि (?) पहुंचाने वाले भैया से मुझे यह शिकायत तो नहीं रही (क्योंकि मेरा उतना बड़ा न होने में दोष तो मेरा ही था) लेकिन बिना कुछ कहे, चुपचाप चले जाने पर शिकायत जरूर है। और यदि उन्हें जाना ही था तो इतना देकर न जाते, जो जिंदगी भर पांवों में कांटे की तरह हर कदम पर गड़ता रहे।

पत्रोत्तर (देवीदास शर्मा को)

दुष्यंत कुमार

दुष्यंत कुमार का एक पत्र

देवीदास शर्मा ने एक पत्र 'एक कंठ विषपायी' के संदर्भ में दुष्यंत कुमार को लिखा था--देवीदास शर्मा इस काव्य-नाटक पर शोध-कार्य कर रहे हैं। यहां प्रस्तुत है दुष्यंत कुमार का उत्तर।

भाषा विभाग, भोपाल

16-12-75

प्रियवर,

आपका पत्र दिनांक 10-12--धन्यवाद।

बहुत संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूं जबकि आपका पत्र विस्तृत उत्तर की अपेक्षा रखता है। अतः 'एक कंठ विषपायी' पौराणिक आख्यान पर आधारित होते हुए भी अपनी एप्रोच में आधुनिक है। उसमें कई प्रश्न एक साथ उठाए गए हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति की शिथिलता...शासन या सत्ता की व्यक्तिगत सनक या लिप्सा के कारण युद्ध...युद्ध का औचित्य और उससे घुटता-टूटता हुआ सामान्य आदमी, जिसका प्रतीक सर्वहत है। लेकिन उसकी मूल संवेदना यह है कि परंपरा से जुड़ा हुआ व्यक्ति या समाज...उस परंपरा के टूटने को या जोड़े जाने को सहज स्वीकार नहीं करता। वह या तो विक्षुब्ध और कुपित हो उठता है या स्वयं टूटता है--पहले अंक में राजकुमार और चिड़िया का प्रसंग...या दक्ष का सती के प्रसंग में क्षोभ एक उसी ओर संकेत है। सती एक परंपरा का प्रतीक है। उसके मरने पर शंकर उसके शव को (परंपरा के शव को) ढोते हैं। और युद्ध छेड़ने को उद्यत हो जाते हैं...परंतु ब्रह्मा युद्ध के मूल कारणों में जाते हैं और एक प्रणाम-बाण यहां उस शव को काट फेंकते हैं, जो शंकर के कंधों पर पड़ा था--जहां उस शव के टुकड़े गिरते हैं, वहां तीर्थ-स्थान स्थापित होते हैं। यह वास्तविक कथा भी है (शिव महापुराण में) इसके

द्वारा यह संकेतित किया गया है कि कोई भी नई परंपरा पुरानी परंपरा की पीठिका पर ही जन्म लेती है। नए मूल्यों को परंपरा का खाद लगता है। साथ ही यह भी कि पुराने लोग नए लोगों का, पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी का और नए मूल्यों का विरोध करती है, यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। परंपरा से जुड़ा हुआ हर व्यक्ति परंपरा के टूटने पर क्षुब्ध ही नहीं होता, खुद भी टूट जाता है। (सर्वहित मर जाता है) किंतु जो महान् व्यक्तित्व होते हैं, वे परंपरा से कटकर नए मूल्यों को अंगीकार कर लेते हैं। शंकर ने जिस प्रकार थोड़े ही समय में नई स्थितियों को स्वीकार किया" इसलिए उन्हें एक कंठ विषपायी कहा गया है। पहले भी सिंधु-मंथन के समय शंकर ने विष पिया था, फिर परंपरा के टूटने का विष भी उन्हें ही पीना पड़ा। यही तो शंकर ने दूसरे अंक में कहा है—'हर परंपरा के मरने का विषय मुझे मिला" हर सूत्रपात का श्रेय"' बाकी आप अपने प्रोफेसर साहब से पूछिएगा और उन्हें सलाम दीजिएगा। वे मेरे पुराने मित्र हैं।

भवदीय
दुष्यंत कुमार

कमलेश्वर के नाम : पांच पत्र

दुष्यंत कुमार

दुष्यंत कुमार के पांच अंतरंग पत्र, जिनकी भाषा और 'पन' इस बात का सुबूत है कि वह कितना बड़ा 'यारों का यार' था"

(1)

प्रिय कमलेश्वर,

कल तुम्हारा पत्र मिला। यह तो बड़ी खुशी की बात लिखी तुमने कि राजेंद्र वहीं बस रहा है। यानी अब अगर तुम कभी दिल्ली से बाहर भी हुए तो मुझे तुम्हारे कमरे का ताला नहीं तोड़ना पड़ेगा—मेरे लिए एक दूसरी धर्मशाला का इंतजाम हो गया है।

मेरा जनवरी में आना पक्का है। बात यह है (किसी से जिक्र मत करना) कि श्री-अपनी लड़की की शादी मेरे छोटे भाई से करना चाह रहे हैं, सो उसका भी कुछ मामला तय करना है। इसलिए राजो भी आएगी।

हां—तू प्यारे, अब 'ग्रेट' संपादक हो रहा है और मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि प्रूफरीडर तो तुझसे बढ़िया आज तक हिंदी जगत् में पैदा ही नहीं हुआ। कहानीकार की भी तुझमें सारी संभावनाएं हैं ही, बशर्ते कि तू"श्री"को अपना पैगंबर मानना छोड़ दे। मैं तो सोचकर हैरत में पड़ जाता हूं, राजेंद्र यादव और राकेश जैसे मित्रों के होते हुए तुझ पर उस जैसे नपुंसक की छाप कैसे पड़ गई।

हां यार, मजाक अलग, धनंजय ने उसकी बड़ी अच्छी सेवा की है और अगर तुम उस लेख को मंगा लो तो एक बड़ा भारी कुहासा छंट जाएगा। वैसे वह भी—बावजूद मेरे समझाने के कि कमलेश्वर इसे कैसे छापेगा—उसे 'नई कहानियां' में ही भेजने की सोच रहा था। मगर तुम्हारा नैतिक कर्तव्य है कि तुम उसे तत्काल एक पत्र लिखकर उस परिचर्चा पर उसकी राय मांगो। आखिर हृषीकेश जैसे

आदमियों से भी तुम मंगाते हो।

मेरा दिल्ली आना इसलिए भी जरूरी है कि तुझे थोड़ी गुरु-दीक्षा दूं और जो जाले वगैरह तुझ पर चढ़ गए हैं, उन्हें झाड़ दूं।

तेरा उपन्यास देखने की बड़ी इच्छा है। मेरा तो खयाल है कि पत्र पाते ही उसे भेज।

राजेंद्र से कहना कि उसके 'किनारे से किनारे' तक की ही समीक्षा की है। मैं भूल से 'छोटे-छोटे ताजमहल' लिख गया था। उसे मैंने विश्व का महान् कहानीकार सिद्ध किया है हालांकि अब वह दिल्ली में बस रहा है तो खतरा है कि उक्त कथन झूठा न पड़ जाए।

तेरा

16-4 दुष्यंत

(2)

प्रिय कमलेश्वर,

तुम्हारा पत्र गांव में मिला था। परेशानियां···हाथ धोकर पीछे पड़ गई हैं। नौकरी की परेशानियां थीं ही कि वह हरामजादा···मेरे पीछे पड़ गया, मुअत्तल किया, इन्क्वारी कराई और फिर भी जब कुछ न निकला तो अनुशासनहीनता वगैरह का चार्ज लगाकर सर्विस टर्मिनेशन का ऑर्डर कर गया। मगर वह आदेश अमल में आया भी नहीं था कि फिर तख्ता पलटा—अब मैंने तो कुछ कहा नहीं मगर देखो—उधर घर की सारी जिम्मेदारियां! पिताजी जहां बहुत बड़ी संपत्ति छोड़ गए हैं, वहां विरासत में 16 मुकदमे भी मिले हैं।

तो इस चुतियापे में चकरघिन्नी खाते-खाते मैंने देखा कि मैं बिलकुल निस्सहाय और अकेला हूं। सिवाय अपने कूवते-बाजू के न कोई दोस्त है, न···दोस्त तो तेरे बाद कोई साला बनाया ही नहीं···तीन महीने वहां के काम निपटाकर कल फिर भोपाल आया, तुम्हारा खत वहां से चलते-चलते मिला। रास्ते में कार अलीगढ़ के पास खराब हो गई तो एक दिन वहां बरबाद हुआ। वरना फौरन तुम्हें लिखता···लिखता क्या कि तुम्हारा खत पाकर राहत मिली···कुछ अकेलापन कम हुआ···यह जो एक अहसास रहा है कि एक दोस्त है, वह साला हजारों मील दूर ही सही—मेरी पीड़ा और परेशानी का सहयोगी तो है···इससे थोड़ी ताकत भी कहीं न कहीं मिलती है।

हां, इन परेशानियों से बचने के लिए एक उपन्यास में डूब गया था। वह लिख लिया है। तुम फौरन राजेंद्र को पत्र लिखकर उसे मंगवा लो। अभी दिल्ली में उसे पढ़ने के लिए दे आया था। वह उसे अक्षर के लिए चाहता है और मैं हरगिज अक्षर को नहीं दूंगा। मैंने ओं प्रकाश को कह दिया है—उसे लिख रहा हूं कि वह तुम्हें पांडुलिपि भेज दे। देखकर अपनी राय-सुझाव देना। कुछ ठीक-ठाक भी कर देना।

अधिकारी जी आ गए हों तो उनसे कहना कि वे भोपाल रुककर भी घर नहीं आए, इस बात पर लड़ाई होगी।

तेरा

दुष्यंत

(3)

प्रिय कमलेश्वर,

एक नई गजल तुम्हें पढ़ने के लिए भेज रहा हूं। तुमने तारीफ करके दिमाग खराब कर दिया। हर तरफ अब गजल ही सूझती है। *मैं सुन रहा हूं हरेक सिम्त से गजल लोगे।*

इस गजल को, पुरानी गजल के साथ मैंने 'धर्मयुग' को भेजा है। 'सारिका' में छापोगे तो यार लोग कहेंगे—यारी निभा रहा है।

एक काम करना। इस गजल के मतले में मैंने संशोधन किया है—पहली पंक्ति में *ये रोशनी की कहानी है सिर्फ छल लोगो* के स्थान पर *बिसाले यार की बातें हैं सिर्फ छल लोगो* कर दिया है। शायद इस बात में ज्यादा व्यंजना है और झील में पड़ती हुई महल की परछाईं की वायवीयता से यह बात ज्यादा मेल खाती है। भारती जी से मिलकर इसे ठीक करा देना—याद से।

और तुम 21 को आ रहे हो या 28 को, पक्का लिखना।

उज्जैन की खूबसूरत यादों में।

तेरा

दुष्यंत

(4)

प्रिय कमलेश्वर,

'साये में धूप' नाम से गजलें छपकर आ गई हैं। परसों मैं दिल्ली था—वहीं मनोज कुमार से भेंट हुई। तुम्हारी प्रति मैंने मनोज को दे दी है, आशा है मिल गई होगी। सारी गजलों को पढ़कर अपनी राय लिखना और ये भी कौन सी गजल तुम्हें ज्यादा पसंद आई और कौन सी कमजोर गई।

4 अगस्त को उज्जैन में एक फंक्शन इस किताब को लेकर बिट्ठल भाई कर रहे हैं—दिल्ली से रमेश जी (टाइम्स ऑफ इंडिया) और शायद मनोहर श्याम जोशी आएंगे—अगर तुम भी आ जाओ तो मजा आ जाएगा। उस दिन रविवार है।

पत्र लिखना।

तुम्हारा
दुष्यंत

(5)

प्रिय कमलेश्वर,

खत मिला। तुम्हें तो हर हालत में आना ही है। मैंने उज्जैन में कह दिया है कि वे लोग निमंत्रण-पत्र में तुम्हारा नाम दे सकते हैं। कोई जरूरी है कि मुझसे संबंधित जो भी महत्त्व के काम हों, उनमें तुम कभी शरीक न हो। इस मौके पर नहीं आओगे तो क्या मेरी मौत पर आओगे?

अब तारीख 4 की बजाय 3 कर दी गई है—रविवार का दिन है। छुट्टी रहेगी।

तू आ तो जा यार। हर बात में घटियापन मत किया कर वरना मैं बंबई आकर तेरी खाल खींच लूंगा।

तेरा
दुष्यंत

नोट :

और मनोज को फोन करके अपनी किताब मंगा ले। 'साये में धूप' वह तेरी कॉपी खुद मांगकर ले गया था।

साहित्य की वह सोनचिरैया

मनमोहन मदारिया

मैं दुष्यंत से कहा करता था—'यार प्लॉट लो, मकान बनाएंगे।'

'मकान क्या बनाना, उसका टका सा जवाब हुआ करता था, यार स्कूटर खरीदो।' भोपाल में पहली मर्तबा जब वह मेरे घर आया था तो बोला था, 'आज यह लैंब्रेटा निकाल रहा हूं। कुछ दिन अब मेरे पास कोई सवारी नहीं रहेगी। इसलिए तुम्हारे घर सुबह-सुबह ही आ गया हूं कि तुमको कोई शिकायत न रहे।'

यह सन् 1969 की बात थी, जब मैं इंदौर से स्थानांतरित होकर स्थायी रूप से भोपाल आया था। दूसरी मर्तबा जब वह मेरे घर आया तो सफेद स्टैंडर्ड कार में था। कोई वाहन मैंने उसके पास अधिक दिन नहीं देखा। आज वेस्पा तो कल लैंब्रेटा, गुलाबी एंबेस्डर, सफेद स्टैंडर्ड या जीप! वह जिंदगी में रफ्तार का कायल था, तेज से तेज रफ्तार का और इसी वजह जब वह देखता कि उसके वाहन की गति नए वाहन जैसी नहीं रही, वह उसे बदल देता था।

दुष्यंत जिस तेजी से अपने वाहन बदलता था, उसी तेजी से नौकरियां भी। आज रेडियो पर है तो कल भाषा विभाग में या आदिम जाति विभाग में। उसे भोपाल बहुत भा गया था और अब वह स्थायी रूप से भोपाल में ही रहना चाहता था।

सन् '60-62 में दिल्ली से स्क्रिप्ट रायटर से असिस्टेंट प्रोड्यूसर के पद पर प्रमोट होकर जब भोपाल रेडियो पर वह आया था, तब छोटा सा उसका परिवार था—एक पत्नी, तीन बच्चे, छोटा भाई और साहित्यिक उपलब्धियों के नाम पर प्रकाशित एक काव्य-संग्रह 'सूर्य का स्वागत'। 25 वर्ष की आयु में प्रकाशित उसके पहले काव्य-संग्रह ने बायरन की तरह उसे रातोरात प्रसिद्ध कर दिया था। 'सूर्य का स्वागत' नई कविता की क्लासिक उपलब्धि है। हम मध्य प्रदेश के लोग दुष्यंत के माध्यम से ही जान पाए थे कि यू०पी० का पानी कैसा है, इलाहाबाद के अपने मित्रों—भारती, कमलेश्वर, साही, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर, लक्ष्मीनारायण लाल, अश्क आदि के दसियों वाकये वह सुनाता था। वह इलाहाबाद जैसा ही माहौल भोपाल में पैदा करना

चाहता था और यहां कई अजीबोगरीब चुहलें वह आए-दिन करता था।

दुष्यंत के लिए साल का हर दिन अप्रैल का पहला दिन होता था। एक वाकया है धनंजय वर्मा के बारे में। धनंजय हर वक्त दुष्यंत की कविताओं की भर्त्सना किया करता था। दुष्यंत ने एक दिन उससे कहा कि इधर मैंने अमेरिका के सर्वाधिक चर्चित युवा कवि जॉन फाकनर फोर्ड की कविताओं का अनुवाद किया है, सुनो। और फिर उसने दस-पंद्रह कविताएं सुना दीं। कविताएं सुनकर धनंजय बोला—'देखो, क्या बात है? कोई साला हिंदी कवि अपने काव्य में यह बात नहीं ला सकता।'

दुष्यंत ने उसे धौंस मारी और बोला—'प्यारे, वह जॉन फाकनर फोर्ड यह दुष्यंत कुमार ही है।' उसने लोगों का मजाक ही नहीं उड़ाया था, मदद भी अकसर की है। रामनारायण उपाध्याय बता रहे थे कि दुष्यंत ने पूछा—'तुम्हें कितनी मदद मिलती है?' जब मैंने वह रकम बताई, वह बोला—'तुम्हें कम से कम पांच सौ रुपए मिलना चाहिए।' उसने यही बात भाषा विभाग के डायरेक्टर राजाराम दुबे से कही तो दुबे जी ने उपाध्याय से कहा—'आप आवेदन कर दीजिए।' आवेदन किया गया। दुष्यंत ने उस पर नोट लिखा और रामनारायण को सौ रुपए अधिक मिलने लगे। राजेंद्र अनुरागी बता रहा था कि उसका काव्य-संग्रह 'शांति के पाखी' की चार प्रतियां वह उसके घर से ले गया था और अपने हाथ में उसके हस्ताक्षर कर उसने उसे शासन साहित्य परिषद् को सब्मिट किया था, जिस पर पुरस्कार मिला।

वह पार्टियों और महफिलों का शौकीन था। 30 दिसंबर, '75 की रात को ढाई बजे उसकी आखिरी सांस उखड़ी थी। उसके दो घंटे पूर्व ही तो वह एक दावत से लौटा था। वह पुराने जमींदारों की तरह दरबार लगाने का आदी था। उसके पास अकसर काम कराने वाले पहुंचते थे और जब ऐसा कोई व्यक्ति पहुंचता तो वह कहता, शाम को एक स्कॉच व्हिस्की लेते आना। उसे स्कॉच बहुत पसंद थी। इस संदर्भ में मुझे उससे लगी अपनी एक शर्त का प्रसंग याद हो आता है। सन् '69 या 70 की बात है। दफ्तर में एक राजनीतिक प्रश्न पर मैंने कहा—'ऐसा होगा।' उसने कहा—'नहीं, वैसा होगा।' मैंने कहा—'हो जाए शर्त।' उसने कहा—'हां, पक्की, एक स्कॉच व्हिस्की की।' मैंने हाथ मिलाया, कहा—'मंजूर।' इस बात का नतीजा 31 तारीख को निकला और मैं शर्त हार गया था। मैं इस शर्त को यूं ही मान बैठा था, मगर सायंकाल मेरे दफ्तर के गेट पर अपनी सफेद स्टैंडर्ड में दुष्यंत कुमार एक पठान की तरह हाजिर था। तब से मैंने कान पकड़े और दुष्यंत से कभी शर्त न लगाने की कसम खाई।

उसके खिलाफ कुछ लोग अखबारों में अकसर लिखा करते थे। वह बोलता था—'भाई, मैंने इन लोगों का क्या बिगाड़ा है, जो ये लोग मेरे खिलाफ इस प्रकार ऊलजलूल बातें लिखा करते हैं।' एक दिन परसाई के सम्मान में आयोजित एक साहित्यिक गोष्ठी में उसने अपने उस निंदक से कहा था—'यार, इधर तू कई दिनों से चुप है।' तू ही तो है, जो मुझे अखबारों की डबल कॉलम सुर्खियों में उछाला करता है। वह इस तरह की साहित्यिक काट-छांट को स्पोर्ट्समैन स्पिरिट से लेता था। शरद जोशी का 'अंधों का हाथी' नाटक देखकर वह बोला—'शरद अब तक तो सब कूड़ा-करकट लिखता रहा था, आज उसने यह सलीके की चीज लिखी है।' शरद को यह बताया तो वह बोला—'मेरी हर रचना पर दुष्यंत की यही कमेंट होती है।' शरद से उसकी नोंक-झोंक इसी प्रकार चला करती थी। जब शरद ने नौकरी छोड़ी, तब उसी दिन शाम को वह बाजार से खरीद-फरोख्त का सामान लिए पत्नी के साथ दुष्यंत से मिलने गया। दुष्यंत ने चुटकी ली—'इस नौकरी से कहां मुक्ति मिली है?'

नौकरी में कैफियतबाजी उसके साथ निरंतर चलती थी—एक साथ कई प्रकरण चलते थे। जिन दिनों पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र राज्य के मुख्यमंत्री थे, बस्तर में गोलीकांड हुआ था। इस पर दुष्यंत की एक कविता 'कल्पना' में प्रकाशित हुई। मिश्र जी ने बुलाया और पूछा—'यह कैसी कविता है?'

दुष्यंत ने लिखा—'पंडित जी, आप तो जानते हैं, कविता लिखी नहीं जाती है, हो जाती है। हो गई।' मिश्र जी स्वयं कवि थे, उसे वार्निंग दी—'देखो, ऐसी हरकत आगे न दोहराना।' मगर उसने कहां उस वार्निंग को गंभीरता से लिया? इधर फिर उसकी कविता की एक पंक्ति पर कैफियत ली गई थी। संविद के शासन में क्लास टू से वह एकाएक क्लास वन ओहदे पर पहुंच गया था और फिर एक दिन अचानक ही वह सस्पेंड हुआ। साल-दो साल वह सस्पेंड रहा था, लेकिन गर्दिश के उन दिनों में उसका साहित्यकार अत्यधिक सक्रिय रहा। उसने इस अवधि में दो लघु उपन्यास और एक काव्य-संग्रह तैयार कर डाले। लोगों ने सिर धुन लिया। सस्पेंड होने पर लोगों को सांस लेना दूभर हो जाता है और यहां मेरा यह यार है, जो इस स्थिति में मजे से उपन्यास और कविताएं झुका रहा था। इन्हीं दिनों एक सुबह उसने मुझसे कहा था—'यदि दुष्यंत को इस दरमियान कुछ हो गया तो बैरागी को जवाब देना भारी हो जाएगा।' (कवि बालकवि बैरागी उन दिनों मंत्री था।) न जाने कौन सी धातु का बना था वह।

वास्तव में वह उसी धातु का बना था, जिसके मंटो या भुवनेश्वर बने थे। भोपाल

में वह पिछले 12-13 वर्षों से था और इस बीच उसने क्या नहीं किया, खंड-काव्य 'एक कंठ विषपायी' का सृजन किया, काव्य-संग्रह 'आवाजों के घेरे' और 'जलते हुए वन का वसंत' प्रकाशित कराए। इस बीच उसने तीन उपन्यास लिखे जिनमें से दो उपन्यास 'छोटे-छोटे सवाल' तथा 'आंगन में एक वृक्ष' प्रकाशित कराए। उसके तीसरे उपन्यास की मूल थीम प्रणय-संवेदना है, जो अप्रकाशित है। इसे वह एक बार फिर लिखना चाहता था। हाल ही में वह मिला था तो कह रहा था—'कोई प्रकाशक बताओ। संस्मरणों और व्यक्ति-चित्रों के संग्रह की पांडुलिपि तैयार कर ली है। इसे छापना है।' वह एक जिम्मेवार गृहस्थ था। भोपाल में उसने अपनी पत्नी को एम०ए० कराकर सर्विस में लगाया, छोटे भाई को पढ़ा-लिखाकर नौकरी से लगाया।

वह सदा उत्तेजना में रहता था और अपने आसपास कृत्रिम तनाव के वातावरण की सृष्टि कर लिया करता था। मैंने जब उसकी इधर लिखी गजलों के बारे में पूछा कि तुमने पुराने डिक्शन को क्यों पकड़ा है? अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में दुष्यंत 'परदेशी' उपनाम से गीत लिखा करता था। मेरा खयाल है कि इन गजलों में दुष्यंत का वह परदेशी नए रूप में प्रकट हुआ था। मेरी बात सुनकर दुष्यंत गंभीर हो गया, बोला—'मित्र, मैं आज की कविता से ऊब चुका हूं। कितनी कट चुकी है यह जिंदगी और पाठकों से!'

सब लोग जैसे एक छोटे से दायरे में घूम रहे हैं। यह कविता कितनी बासी, उबाऊ और अपठनीय है। ऐसे में मैं नई जमीन तोड़ने की कोशिश कर रहा हूं। यह गजल बहुत ही नाजुक डिक्शन है और इन गजलों में मैं जैसा कुछ लिख रहा हूं, वैसी कभी किसी ने कल्पना तक न की थी। उर्दू वालों को तो हैरत है कि गजल भी इतनी तेज-तर्रार हो सकती है! वह श्रोताओं और पाठकों से सीधा संबंध स्थापित करना चाहता था। इन गजलों से उसने जो कंटेंड दिया है, उसने इस फॉर्म की गहराई नाप दी है।

उसके उपन्यास 'आंगन में एक वृक्ष' को पढ़ें, उपन्यास में उसका नायक चंदन स्पष्ट ही दुष्यंत है। उपन्यास में चंदन का जो हश्र हुआ, जिंदगी में दुष्यंत का हुआ। 'आंगन में एक वृक्ष' के इन अंतिम शब्दों में चंदन की जगह दुष्यंत को रखकर पढ़िए—

...आज भी मैं सोचता हूं कि चंदन पर सांप का जहर भी असर नहीं करता। फिर शराब कैसे उसकी मृत्यु का कारण बन गई? नहीं...यह गलत है। वे शराब से नहीं, मुहब्बत का जहर पीकर मरे हैं। माना कि उन्होंने जिंदगी को शराबखाना

बना लिया था, लेकिन फिर भी उनके चारों ओर मुहब्बत का समुद्र न होता तो क्या वे मरते...?

अभी कुछ दिन पूर्व उज्जैन के एक मित्र ने उससे कहा—'मनमोहन मेरा दोस्त है।' तो उसने कहा—'तेरा दोस्त होगा, मेरा तो वह जिगरी है।' उसके परिचितों का दायरा कितना व्यापक है, यह इसकी शवयात्रा देखकर पता चला। राज्यपाल के प्रतिनिधि से लेकर मृत्यु तक, सब उसमें शामिल थे और मजा यह था कि हर परिचित कह रहा था कि वह बस उसका ही जिगरी था।

ऐसा जिगरी दोस्त फिर क्या किसी को मिलेगा?

दुष्यंत कुमार की याद में

विट्ठलभाई पटेल

सिपाही अगर लड़ाई के मैदान में मारा जाए तो उतना ज्यादा दुःख नहीं होता, जितना विजय प्राप्त करने के बाद मरने से होता है। ऐसी मौत सिपाही की मौत नहीं, विजय की मौत कहलाती है, अस्तित्व की मौत कहलाती है। जिंदगी के मैदान में विजय प्राप्त करने के बाद कालग्रसित होने वाले एक और सिपाही का नाम लेते हुए हृदय भर आता है। पर वह बेदर्द दुष्यंत कुमार त्यागी इतना समझता तब न, वह तो सिर्फ इतना कहकर जाना चाहता था—

मेरे गीत तुम्हारे पास सहारा पाने आएंगे,
मेरे बाद तुम्हें ये मेरी याद दिलाने आएंगे।

रात की गहराइयों में दीपक की टिमटिमाती रोशनी के सहारे जीते हुए पतंगों से प्रेरणा पाकर तो हमारे बहुत से गजल-लेखकों ने अच्छी-अच्छी बातें कीं पर इस विद्रोही ने हमेशा इसका विरोध किया। भावनाओं का कुबेर, गजलों का गालिब, शब्दों का कर्ण, दुष्यंत अपने ही हाथों में अंगार लेने के बाद सोचता था—

हाथों में अंगारों को लिए सोच रहा था,
कोई मुझे अंगारों की तासीर बताए।

वह भी एक नूतन वर्ष का शुभारंभ था, जब 'सारिका' ने अपना नया वर्ष इसी शायर की एक बहुचर्चित रचना से प्रारंभ किया था—

कहां तो तय था चिराग हरेक घर के लिए,
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

और एक यह मनहूस वर्ष है, जिसने सभी के होंठ बंद कर दिए, सभी की आंखों के सामने आंसू के दर्पण में यह पूरा वर्ष प्रतिबिंबित कर दिया, मात्र इन कोरे पृष्ठों में काले कुछ अक्षर पोत देने से भाई दुष्यंत की व्याख्या नहीं हो जाती। वह और

उसकी विशेषता शब्दों से आंकी नहीं जा सकती पर मजबूर था। जैसे ही उनकी मृत्यु का समाचार मिला, अपने आप को संभाल न सका। और करता भी क्या? कुछ शब्द ही उसके लिए लिखकर अपने दर्द को भुलाना चाहता था।

वह कल्पनाओं के सहारे तो बढ़ा, पर उन्हें वह माध्यम नहीं मानता था। अपनी नजर से जो देखा, वह उसके लिए सच होता, सच और स्वप्न के बीच के फासले को तय करके वह अपना समय बरबाद नहीं करना चाहता था। वह जीता तो सिर्फ इसलिए रहा कि जीना आवश्यक है। इसलिए नहीं कि आम प्राणी की तरह जीना भी उसकी आदत बन जाए। आत्मविश्वास तो उसमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। इस पर भी वह 'मैं' और 'तुम' की दूरी खत्म करना चाहता था। वह औरों के लिए अपने आप से लड़ता था, वह जीवन भर विद्यार्थी बनकर रहना पसंद करता था। सफर में बहुत आगे निकल जाने के बाद भी वह मंजिल नहीं पाना चाहता था, क्योंकि वह अपने आप को जानता था, वह सिर्फ भागना चाहता था—'मैं नहीं जानता मेरा दृष्टिकोण गलत है या सही, क्योंकि यह दुनिया एक मोटी किताब है और मैंने इसे पढ़ा नहीं!'

स्मृतियों के दाग

मेहरुन्निसा परवेज

भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री सेठी जी के बंगले पर श्री मनोहर बैरागी से अचानक भेंट हो गई। वह वहां अपने दल के साथ मौजूद थे। मैंने उनसे कहा—'मुझे दुष्यंत भाई के घर जाना है। वह साथ चलने को तैयार हो गए।'

हम दोनों टी०टी० नगर उनके घर आए। गेट खोलते ही खिड़की के पास कोने में शाल ओढ़े बैठी भाभी जी दिख गईं। मुझे देखते ही वह बाहर आईं। उनके हाथ में पेन था, शायद कहीं पत्र लिख रही थीं, उंगलियां स्याही में रंगी थीं। मुझे देखते ही उनकी सूनी और वीरान आंखें डबडबा आईं, पर वह अपने को संभाले बैठी रहीं। यही चेहरा पहले कितना चहकता सा लगता था, आज ठूंठ की तरह वीरान हो गया था। सहसा दुष्यंत भाई का शे'र याद आया—

अपने माजी से परेशां है न मुस्तकबिल से,
अपने आगाज से वाकिफ है न अंजाम से वो।

'काफी दिनों पहले वह गांव गए थे, आप तो जानती हैं कितने शरारती थे वह, भाभी जी बोलती हैं—वहां उन्हें घबराहट-सी हुई तो उन्होंने एक कागज पर अपना नाम-पता लिखा और छाती पर रखकर लेट गए, ठीक लगा तो घर लौटे, मुझे बताया तो मैंने डॉक्टर से मिलने को कहा, तो बात को हंसी में टाल गए।'

एक भयानक चुप्पी!

'उस दिन जब उनकी तबीयत खराब हुई तो किसी को यह आशा थी ही नहीं, कि ऐसा होगा। बस, बेबी से बोले—बेटे, लगता है हम जा रहे हैं, बस, इतना ही।'

भीतर से मां बाहर आईं, जिनके चेहरे पर सैकड़ों झुर्रियां थीं, ऊंची-पूरी, पंजाबी काठी की थीं। वह हैरान आंखें जो पहले ही पांच बेटों की मौत देख चुकी थीं। मैंने उन्हें देखा, प्रणाम किया और परेशान सी उन्हें निहारती रह गई। एक मां के लिए इससे बढ़कर वेदना क्या होगी, जो अपने कोख से जन्मे लाल को चिता की आग

में झुलसता देख चुकी थीं, वह भी एक-दो नहीं पूरे···पांच!

'मकान छोड़ना होगा,' भाभी जी ने थके शब्दों में बताया। यदि इस घर को छोड़ना पड़ा तो बताइए कितनी न परेशानी होगी। भविष्य से बुरी तरह भयभीत थी वह औरत, जो कम उम्र में ही अकेली हो गई थी।

दुःख बताने से हलका जरूर होता है पर वह कम नहीं होता, और वह दोपहर उस भयभीत, परेशान और दुखी औरत के सामने बैठना कितना मुश्किल लग रहा था, क्या इसी क्षण को दुष्यंत भाई ने अपने शे'र में बांधा था—

एक अफसाने को सुनकर आंख मेरी नम हुई,
बुत बना बैठा था मैं, पर बुत बना बैठा न था।

कितना असहनीय था। जिस औरत का पति खुद दूसरों के कामों के लिए दौड़ता-फिरता था, आज वह खुद कितनी बेसहारा सी हो गई थी! मैंने तथा श्री मनोहर बैरागी ने कुछ सलाह दीं, कुछ पते नोट करवाए और हर तरह की मदद का आश्वासन दिया। वे उठकर अंदर गईं और मुझे अनायास याद आ गया इसी जगह, इसी कुर्सी पर बैठकर मैंने एक पत्र लिखा था···

दुष्यंत कुमार त्यागी जब पहली बार बस्तर आए तो यहां के कलेक्टर श्री प्रभात कुमार मेहरोत्रा के घर सपत्नीक ठहरे थे। शाम को वह और प्रभात कुमार जी सपरिवार हमारे घर आए, परंतु घर बंद था। वह बाजू वाले घर पर एक चिट्ठी छोड़ गए। रात जब मैं लौटी और पत्र मिला तो बड़ा अफसोस हुआ। हम यही समझे कि वह भोपाल लौट चुके होंगे, पर दूसरे दिन सुबह वह लगभग आठ बजे हमारे यहां आए, काफी देर गपशप, ठहाके, चुटकुले चलते रहे। मुझसे मांगकर मेरी किताब 'उसका घर' ले गए।

कुछ दिनों के बाद मैं भोपाल गई। दोपहर को जब मैं अपने प्रोग्राम से फ्री हुई तो दुष्यंत जी के घर गई, घर पर नौकर था। दुष्यंत जी, भाभी जी, दोनों नहीं थे। मैंने नौकर से पानी मांगा और चिट्ठी लिखकर छोड़ गई—'भाई दुष्यंत जी, आप हमारे घर आए, आपको पानी भी मयस्सर नहीं हुआ, पर मैं आपके घर से एक गिलास ठंडा पानी पीकर जा रही हूं।'

कालिदास समारोह में जगदलपुर वह आए, पर उन दिनों मैं जगदलपुर में नहीं थी। म०प्र० हिंदी साहित्य परिषद् की मीटिंग थी, मैं चाचा जी श्री मायाराम सुरजन के घर ठहरी थी। इस बार तबीयत कुछ ठीक नहीं थी इसीलिए सोच लिया था, किसी

से मिलना नहीं है।

दोपहर को मैं खाना खाकर लेटी थी और चाचा जी की बेटी ममता से बातें कर रही थी कि फोन की घंटी बजी। ममता ने फोन उठाया। फिर मुझे दिया, दूसरी तरफ से दुष्यंत कुमार जी थे।

'तो आप भोपाल आईं और चुपचाप निकल जाना चाहती थीं? मुझे पता चला तो अभी आपको ऑफिस से फोन कर रहा हूं···अकेली आई हैं···?'

'जी हां।'

'तो चलिए अब आप भी वोल्ड हो रही हैं। हिंदुस्तान की दब्बू पत्नियों से तो मैं तंग आ गया हूं, चलिए आपने शुरुआत की, क्या बधाई दूं?'

'न। बिलकुल अकेली नहीं हूं, साथ में एक दोस्त आई है। फिर हंसी हुई।'

'इन दिनों घर वालों ने मेरा बहिष्कार कर दिया है, आजकल मैं होटल में हूं, आखिर कवि को कब तक सहते? गजलें लिख रहा हूं इन दिनों, शाम को तो आप घर पर रहेंगी न?'

दुष्यंत भाई रात को घर पर आए, पर मैं ममता के साथ चाचा जी के प्रोग्राम इंडो-सोवियत सेमिनार में चली गई। समय काफी हो गया, लौटे तो पता चला दुष्यंत भाई आकर चले गए हैं, चिट्ठी मिली—'मेहरुन्निसा जी, सुबह आप अपनी दोस्त के साथ चाय पर आइए। कुछ नई गजलें सुनें। पति शायर हैं तो यह ज्यादती सहना अब आपकी आदत हो गई होगी, मेरी ज्यादती भी सह लें।'

दूसरे दिन सुबह मैं तैयार होकर चाचा जी को बताकर कि मैं दुष्यंत जी से मिलने जा रही हूं, तथा मीटिंग में ठीक ग्यारह बजे पहुंच जाऊंगी, दोस्त के साथ चली गई। होटल गई तो दुष्यंत भाई पैजामा और हलके स्लेटी रंग की शर्ट पहने बिस्तर पर अधलेटे से बैठे कुछ लिख रहे थे। कमरे में ढेर सारी खाली हुई शराब की बोतलें पड़ी थीं। बीड़ी के टुकड़ों से पलंग का निचला भाग भरा था। कमरे की हालत देखकर लग रहा था, इसमें रहने वाला व्यक्ति रात भर सोया नहीं है।

'मेहरुन्निसा जी, इन दिनों मैं महीने भर से यहीं हूं, किसी से नहीं मिलता, बस ऑफिस जाता हूं और लौटकर यहीं इसी कमरे में वंद हो जाता हूं··· बस गजलों का दौर शुरू किया है···'

'पर घर पर भी तो लिख सकते थे न?'

'नहीं, घर में उतना एकांत कहां मिलेगा, बस कभी मैं घर चला जाता हूं? कभी पत्नी यहां मिलने आ जाती है।'

फिर उन्होंने रजिस्टर खोला और ढेर सारी गजलें, लंबी नज्में, जो उस वक्त रफ

में थीं। सुनाईं।

वह हमें छोड़ने बाहर सड़क तक आए। क्या पता था कि वह विदाई अंतिम होगी।

भाभी जी लौटीं, रोई हुई आंखें! अंदर जाकर वह रो आई थीं। पढ़ी-लिखी औरत भी कितनी बेचारी हो जाती है, दूसरों के सामने ढंग से रो भी नहीं पाती। गेट तक छोड़ने आईं। विदा करते समय फिर उनकी आंखें भर आई थीं और मुझे लगा इस भीड़ भरे संसार में यह औरत कितनी अकेली है···कितनी परेशान है! स्मृतियों के दाग जो इसके चेहरे पर अंकित हो गए थे, कभी मिट सकते हैं? क्या इसी दिन के लिए दुष्यंत भाई लिख गए थे···

कहां तो तय था चिराग हरेक घर के लिए,
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

बदलाव की बेचैनी का कवि

अनिल कुमार

आदमी दुष्यंत कुमार मात्र को देखकर उसकी कविताओं की धड़कनों तक पहुंचना कठिन है। मैं खुद इस रास्ते से गुजर चुका हूं। जो आदमी नजर के सामने रहता है, हम उसको देख-देखकर दिमाग बना लेते हैं। उसके कृतित्व का विचार करते वक्त हम अपने बने-बनाए दिमाग से, पहले से बुने हुए जाले में मक्खी की तरह उसको किसी एक अंदाज में चिपका लेते हैं। हमारी परख की मकड़ी अब कहां बच के जाएगी? वह अदा से धीरे-धीरे शिकार को चूसना शुरू करती है। आदमी दुष्यंत कुमार के जीवनक्रम के ठीक दूसरे छोर पर मेरे भीतर का आदमी खड़ा था। मैं दूर-दूर से उस छोर पर खड़े व्यक्ति को पढ़ता था। मेरे पास बरसों से उसकी किताबें रखी हैं, मैंने एक भी पंक्ति नहीं पढ़ी थी। मेरे लिए पूरी तरह संभव था कि मैं अपने व्यक्ति-मन का जाला उसके साहित्यिक अस्तित्व को पहनाकर हिसाब लगा लेता। आलोचना के हिंदी इतिहास में अपने-अपने पूर्वाग्रहों का गणित हल करने से कौन बचा है? यह मेरा सौभाग्य है कि मैंने मृत्यु का झटका खाकर व्यक्तित्व वाले स्पर्श से खुद को खाली कर लिया। दूसरे दिन से ही कवि की कविता पुस्तकों में अंकित लेखों में डूब गया। 'सूर्य का स्वागत', 'आवाजों के घेरे' और 'जलते हुए वन का वसंत' की 143 कविताओं में डुबकी लगाकर डेढ़ हफ्ते बाद जब मैंने सिर ऊपर उठाया तो मुझे पहला एहसास हुआ, अफसोस! मैंने उसे खो दिया! अब मैं उसको नए सिरे से नहीं प्राप्त कर सकता ताकि हम मिलकर उस बंद दरवाजे पर दस्तक दें, जहां चोट मारने से कविता कतराती है। कविता की आढ़त करने वाले दलाल, कवि को ऐसा कुछ करते देखकर, कविता को घटिया दामों पर नीलाम करते हैं। रचनागत विश्वासों के खातिर हर फंदे में गर्दन फंसाकर विश्वास परखने का दुनिया को मौका देना सबके बस का नहीं होता, पर ऐसे खुद को बचाकर चलने वालों को भी साहित्य में साहित्येतर दृष्टि से घुसपैठ करने वाली एजेंसियां बेदाग नहीं छूटने देतीं।

कवि ने कविता के संदर्भ में लंबे-लंबे लेख नहीं लिखे हैं। उसने अपनी कविता

की व्याख्या करने का मर्ज भी नहीं पाला। कविता की पहली दो किताबों में कवि ने भूमिका के नाम पर न तो कोई स्पष्टीकरण दिया है, न कोई लाइन दी लेकिन तीसरे संग्रह में देश और आदमी, समाज और राजनीति को लेकर दुष्यंत कुमार निश्चित जमीन पर खड़े हैं। 'जलते हुए वन का वसंत' संग्रह में 'देशप्रेम' खंड की कविताएं कवि को विश्वास की जमीन पर आरोपित करती हैं। कवि ने अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए लिखा है–

'मेरे पास कविताओं के मुखौटे नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राएं नहीं हैं और अजनवी शब्दों का लिबास नहीं है।' 'मैं कविता को चौंकाने या आतंकित करने के लिए इस्तेमाल नहीं करता। उसे इतनी छोटी भूमिका नहीं दी जा सकती। समाज और व्यक्ति के संदर्भ में उसका दायित्व इससे बहुत बड़ा है।'

'वह (कविता) राजनीति, सामाजिक और वैयक्तिक हर स्तर पर, हर लड़ाई में मेरे लिए एक भरोसे का हथियार है।'

अपनी काव्यदृष्टि के बारे में दुष्यंत कुमार ने यह स्पष्टीकरण देकर पूर्व-प्रकाशित दो काव्य-संग्रहों को जांचने की छूट दी है। तीसरे संग्रह और बाद में लिखी 52 गजलों की किताब में कवि की लाइन स्पष्ट हो जाती है। एक गजल के दो शे'र देखिए–

भूख है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ,
आजकल दिल्ली में है, जोरे बहस ये मुद्दआ।
दोस्त, अपने मुल्क की किस्मत पे रंजीदा न हो
उनके हाथों में है पिंजरा, उनके पिंजरे में सुआ।

स्पष्ट है, दुष्यंत कुमार सरकारी कवि नहीं थे, जबकि उनके लिए श्रद्धांजलियां रोने वाले कविगण मौकापरस्त सरकारी कवि का रोल अदा करते हैं। वे पार्टी के आदमी भी नहीं थे। किसी दल के मैनीफेस्टो को कविता में नहीं ढाला। पार्टी लाइन सूंघ-सूंघकर कविता के फूल नहीं तोड़े। वह जनता नाम की मुर्दा और बेवकूफ भीड़ को भी माफ नहीं करता। जो कवि जनता को इन शब्दों में याद करता है–

क्षत-विक्षत लाश के पास
बैठे हैं असंख्य मुर्दे उदास।
और गोलियों के जख्म देह पर नहीं है।

पिछले दिनों, साहित्य के मूल्यांकन के एक अवसर पर, भोपाल में केवल

दर्शक और बहरे श्रोता के रूप में चुपचाप बैठा रहना दुष्यंत कुमार के लिए असंभव हुआ तो वे बार-बार खड़े होने लगे ताकि अपनी जबान खोल सकें, लेकिन अध्यक्षता कर रहे पार्तिनोस्त आलोचक प्रवर नामवर सिंह ने कह दिया, दुष्यंत की लाइन (यानी पार्टी लाइन) क्लियर नहीं है। लेकिन जिनकी लाइन स्पष्ट है, उन पर दुष्यंत कुमार के दो शे'र और भी ज्यादा स्पष्ट हैं—

हो गई हर घाट पर पूरी व्यवस्था
शौक से डूबे जिसे भी डूबना है।
दोस्तो, अब मंच पर सुविधा नहीं है,
आजकल नेपथ्य में संभावना है।

और बहुत से लोग सचमुच नेपथ्य में चले गए—साहित्य में भी, राजनीति में भी, वह मंच नहीं रहा। कलम पर ताले लग गए पर दुष्यंत ने अपनी रफ्तार कुछ तेज ही कर दी। न केवल लिखने में बल्कि भरपूर जिंदगी जीने के मामले में वह तेजी से चला। क्या जाने उसने कैसे कड़वे घूंट पिए थे। जहां और लोग ठहर गए थे, कविता के लिए सार्थक भाषा की निरर्थक बहस में उलझे थे, सही संवेदनों के माध्यम से शुद्ध कविता का मक्खन चुपड़कर चिकने-चुपड़े कवि बनने की अदा से सीना फुलाए मंच पर आ रहे थे, इस कवि ने सीधे-सीधे लिखा—

ये जुबां हमसे सी नहीं जाती,
जिंदगी है कि जी नहीं जाती।
मेरे सीने में नहीं, तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।

आखिरकार कवि दुष्यंत कुमार की यह बेचैनी किस बात का सबूत है? क्या इस बेचैनी को आप मध्यमवर्गीय कैरिअरिस्ट की बेचैनी कहेंगे? जिस सूरतेहाल में से परेशान होकर बदलाव की भाषा बोलने लगते हैं, जुबां को सीना ही नहीं चाहते, राख में चिनगारियां ही देखते हैं, तो यह किस बेचैनी का सबूत है? यह बेचैनी एक जिम्मेदार नागरिक की है। लोकतंत्र के एक समझदार मतदाता की है। हर तरह से शासित बेजबान मामूली आदमी की है।

दुष्यंत कुमार का उठना-बैठना उन लोगों के बीच था जो समाज के नियामक

कहे जाते हैं। राजनीति जिनकी उंगलियों से नाचती है। जो उलटफेर के धनी हैं। ऐसे में मुगालता हो सकता है कि वह भी ऊपर की फुनगी पर बैठा हुआ है। वहां से दार्शनिक अंदाज में कविता, कविता की सूक्ष्म कारीगरी की बात करना आसान हुआ करता है। और ऐसा करने वालों की कमी नहीं है। लेकिन दुष्यंत कुमार वहां से साफ-साफ अंधेरी घाटियों में अंधेरे की ताकतों को देखता है—

रोशन हुए चिराग तो आंखें नहीं रहीं।
अंधों को रोशनी का गुमां और भी खराब।

राजनीतिक हलचलों, फैसलों और जीवन पर पड़ते कुछ प्रभावों से बेचैन होने वाले सजग, प्रबुद्ध नागरिक के नाते उसकी काव्य विषयक चिंता कविता को आम लोगों तक फैलाने की रही है। अपने को मूल्यांकित करते हुए उससे कहीं गफलत नहीं होती वरना वह क्यों लिखता कि—'मैं साधारण आदमी हूं। इतिहास और सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में, साधारण आदमी की पीड़ा, उत्तेजना, दबाव, अभाव और उसके संबंधों, उलझनों को जीता और व्यक्त करता हूं ''पाठक से यह पूछना बहुत जरूरी है कि वह कविता के संदर्भ में आज क्या सोचता है? और क्या कविता उस तक पहुंच रही है? मैं खुद पाठक के रूप में उस कविता की खोज में हूं जो हर व्यक्ति की कविता हो और हर कंठ से फूटे।'

एक बड़े सवाल के लिए हल किए गए दो छोटे-छोटे सवाल

राजेश जोशी

दुष्यंत कुमार मूलतः एक कवि के रूप में ही जाने जाते रहे हैं। उन्होंने अपनी रचना-शक्ति का सर्वोत्तम अवदान कविता को ही दिया है लेकिन उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं—दो उपन्यास, 'छोटे-छोटे सवाल' जो 1964 में प्रकाशित हुआ और दूसरा 'आंगन में एक वृक्ष' जो 1969 में प्रकाशित हुआ। इन दोनों ही उपन्यासों को पढ़ते हुए लगातार यह अहसास बना रहता है कि आप एक कवि का गद्य पढ़ रहे हैं। भाषा 'जैसे किसी ने घुंघरुओं से लदे पेड़ की डाली पकड़कर हिला दी हो' और कथा एक सामाजिक परिवेश में चलते-चलते एक बिंब में, एक कविता में बदलने लगती है। हमारे आंगन में एक चंदन का वृक्ष उग आया है, मां, पिताजी को वह पेड़ दिखलाती हुई खुश हो-होकर उसे सूंघ रही हैं। हरी-हरी पत्तियों की सघन झाड़ी वाला वह छोटा सा वृक्ष हम सबके आकर्षण का केंद्र बना हुआ है, किंतु दूसरे ही क्षण दृश्य बदल जाता है। वह पेड़ सूखने लगता है। मां की मुस्कराहट गायब हो जाती है। और पिता समझाते हुए कहते हैं···घबराओ मत, कभी-कभी चंदन को सांपों का विष लग जाता है।

यह काव्यात्मकता गद्य में कहां तक सही है और कहां तक गलत, इस बारे में मतभेद हो सकता है, लेकिन काव्यात्मकता से विहीन गद्य के उदाहरण साहित्य में विरले ही होंगे। प्रेमचंद के 'गोदान' और हेमिंग्वे जैसे विशुद्ध गद्य के रचनाकार के 'ओल्ड मैन एंड दि सी' तक में काव्य की शक्ति उभरती है।

दुष्यंत के उपन्यासों में भी उनकी कविता बार-बार हस्तक्षेप करती है। लेकिन एक स्पष्ट सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि जितनी उनके गद्य में दिखाई देती है, उतनी कविता में नहीं है। 'एक कंठ विषपायी' जैसे काव्य-नाटक में भी, जिसमें देवता अचानक राजनीतिक नेताओं में परिणत होने लगते हैं, यह दृष्टि उतनी साफ नहीं है।

हमारे देश में सामंतशाही का एक लंबा दौर रहा है, और पूर्ण रूप से यह समाप्त नहीं हुआ है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में राष्ट्रीय कुबेरों और सामंतों दोनों ही ने सहयोग किया, और मुक्ति आंदोलन की समाप्ति के बाद भी कोई पूंजीवादी, जनवादी क्रांति हमारे यहां नहीं हुई, बल्कि इसके विरुद्ध सामंतों और पूंजीपतियों में समझौते की स्थिति ने एक 'यथास्थिति' को जन्म दिया, वर्ग-संघर्ष तीव्र होने के बजाय भोथरा किया जाता रहा और एक अर्धसामंती पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था कायम रही। इसी खिचड़ी व्यवस्था से पैदा विसंगतियों एवं विकृतियों की तस्वीर हैं—दुष्यंत के दो उपन्यास, 'छोटे-छोटे सवाल' और 'आंगन में एक वृक्ष'।

'आंगन में एक वृक्ष' एक जमींदार परिवार के चरित्र की कहानी है—उसकी कुटिलता, क्रूरता, चालाकी, संकीर्णता, आडंबर और ऐतिहासिक प्रक्रिया में उसके निरंतर ह्रास की कहानी।

इसका एक उद्धरण सामंतों की क्रूरता और उस पर दुष्यंत की गहन पकड़ के लिए देना चाहूंगा—

"···वे तो उसी वक्त तांगा लौटाने को कह रहे थे मगर मैंने सोचा कि ये तो ठहरे जमींदार, इनका क्या बिगड़ेगा? जाएंगे और उठाकर दस-बीस बेंत या जूते चमड़े के सिर पर दे मारेंगे।"

इस क्रूरता के अलावा जमींदारी हड़पने के लिए पिता द्वारा की जाने वाली तिकड़में और चालाकियां, अपनी पहली पत्नी के लड़के के नाम की गईं उनके नाना की जायदाद कबाड़ने के लिए लड़के को उसकी मौसी 'मैना जी' से छीनने के लिए पिता द्वारा अपनाई हरकतें और साम-दाम-दंड-भेद की एक कुटिल कथा इसमें चलती है। इस कथा की अंदरूनी शक्ल बार-बार पिता और मां के बीच होने वाले घरेलू झगड़ों में परत दर परत खुलती है···"आज ही अगर फसाद न हो गया होता तो देखते शाम से ही बोतल खुल गई होती," या यह लताड़—"मैं भूल सकती हूं, तुमने ही मुरली नट को बुलाकर कहा था कि वह अपनी लड़की के डोरे में चंदन को फांसे रखे।" चंदन को इसी तरह फांसते हुए उसका पिता काश्तकार से जमींदार होता है।

जमींदारों की एय्याशी, क्रूरता, हेकड़ी, रीति-रिवाज, धर्म और जाति को लेकर रूढ़िगत मान्यताओं के सभी पक्षों को दुष्यंत इस सवा सौ पृष्ठों के उपन्यास में समेटते हैं। उपन्यास का एक पक्ष है पिता और दूसरा शंकर, जो परिवार का बड़ा लड़का है। अपने फक्कड़पन, शिकार की आदत, और खुले हाथ खूब खर्चीले किस्म

का व्यक्ति, जिसके साथ नट-नटनियों और शरावखोरी के सैकड़ों किस्से हैं। वह पूरी जमींदारी में चलते किस्सों का नायक है। वेहद लोकप्रिय भी। उपन्यास की कहानी कहने वाले मैं, मंडावली वाली भाभी, आख्खो भाई और भिक्खन चमार के पाले शंकर के अलग-अलग किस्से हैं। अलग-अलग यादें। उपन्यास का अंत शंकर की मौत से होता है। मंडावली वाली विधवा भाभी को अपने आखिरी पत्र में वह लिखता है—'मैं मरूंगा तो शराब में नहीं, मुहब्बत के समुद्र में डूबकर मरूंगा।'

दुष्यंत का पहला उपन्यास 'छोटे-छोटे सवाल' उनकी इस भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ था कि 'प्राइवेट स्कूल-कॉलेजों पर लिखने की बात मेरे मन में बहुत दिनों से थी'''शायद तब से जब वह विद्यार्थी थे। यह उपन्यास मात्र प्राइवेट कॉलेज के बारे में ही नहीं है। यह उस अर्धसामंती, पूंजीवादी व्यवस्था का एक कच्चा चिट्ठा भी है जिसने शिक्षा को भी एक धंधे में परिणत कर दिया है। इस उपन्यास का मुख्य स्थल है राजपुर, एक छोटा सा कस्बा और वहां के टुटपुंजिए सेठियों द्वारा चलाया जा रहा 'हिंदू इंटर कॉलेज।' यह केवल एक प्रतीक बनता है, जिसमें एक ओर कमेटी मेंबरों द्वारा 'कृषि योजना' चलाकर किसानों के लड़कों का शोषण होता है और दूसरी ओर कॉलेज की आड़ में कमेटी मेंबरों के अपने निजी व्यवसाय का काला-पीला ढकता रहता है। राजपुर में एक और भी कॉलेज है, 'मुस्लिम इंटर कॉलेज'। दोनों सांप्रदायिकता की नींव पर रखी शिक्षा की दुकानें हैं, जहां अध्यापकों की नियुक्तियां अंगूठाटेक व्यापारी, सोर्स, भाई-भतीजावाद, धर्म और जाति-आधार पर करते हैं।

उपन्यास सिर्फ कॉलेज की चहारदीवारी में ही समाप्त नहीं होता, वह उसके पीछे चलते राजनीति के व्यापार तक के सारे नाटक को बेपरदा करता है। प्राइवेट कॉलेजों की सरकारी ग्रांट लेने के लिए की जा रही तिकड़में, नौकरियों के अस्थायीपन का आतंक, कमेटी मेंबरों की तानाशाही, मास्टरों की चिलम-भरू प्रवृत्तियां, प्रमोशन की धांधली, ज्यादा रकम पर हस्ताक्षर करवाकर कम पगार बांटना, तीन-तीन महीने पगार न देना, छुट्टियों की तनख्वाह काट लेना आदि, वे सभी छोटी से लेकर बड़ी बुराइयां जो आज भी प्राइवेट स्कूल-कॉलेजों का स्थायी चरित्र बनी हुई हैं, इस सब को दुष्यंत ने बहुत बारीकी से पकड़ा है।

लेकिन ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य उसके मूल कारणों की जांच-पड़ताल है। उस जड़ को जानना है, जिसके कारण यह विषवृक्ष टिका हुआ है। और दुष्यंत अर्थतंत्र की उस बुनियाद तक पहुंचते हैं। घोर आदर्शवादी, ईमानदार, आर्यसमाज में पूर्ण निष्ठा रखने वाला मास्टर सत्यव्रत चार बार जयप्रकाश और राजेश्वर ठाकुर द्वारा

समझाने पर भी कमेटी मेंबरों की शोषक और कुटिल चालों को नहीं समझता, हर आदमी को अच्छा और हर बात में एक अच्छाई देखने के हवाई आदर्श लिए जो लगातार पूरी निष्ठा और लगन से एक आदर्श स्थापित करना चाहता है—लेकिन अंत में? हड़ताल, कमेटी मेंबर का होटल बंद होना, और सारी अव्यवस्था के आरोप उसी पर थोप दिए जाते हैं। चूंकि उसका कोई सोर्स नहीं है, अतः वह बर्खास्त कर दिया जाता है। यह अंत सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से विहीन एक खोखली आदर्शवादी ईमानदारी का है। दूसरी ओर जयप्रकाश और राजेश्वर ठाकुर हैं जो पूरी व्यावहारिकता के साथ, विद्यार्थियों को संगठित करते हैं। टीचर्स यूनियन का गठन करते हैं, और लड़ाई लड़ते हैं।

दुष्यंत के एक पत्र का अंश

दुष्यंत कुमार

गजलों के संदर्भ में

प्रिय श्री सलीम,

आपका बहुत अच्छा सा खत मिला। इतने सारे प्रशंसा-पत्रों के बीच आपका खत ठीक ढंग से सोचने वाले अदीब का खत है। इस बात से मैं आपकी सहमत हूं कि पिछली गजलों के मिजाज से इन गजलों का मिजाज थोड़ा हटा हुआ है। ज्यादा सही बात यह है कि उस मिजाज की गजलें अब कोई छापता नहीं।

वो बात कहां है अब यारो मुझे बतलाओ,
जो बात को सीधे से कह दो औ' निकल जाओ।

पर यह बात आपकी सरासर गलत है कि गजलों में छंद-दोष है—उनकी बहर टूटती है—या मिसरे अनबैलेंस्ड हैं। लेकिन उर्दू के हिसाब से हैं भी···जैसे—

पहले मेरे और उनके बीच ये परदा न था।

इसे उर्दू वाले यों पढ़ेंगे 'पहले मेरे औ' उनके' जबकि हिंदी वाले पढ़ेंगे 'पहले मेरे और उनके।' दूसरी गजल में 'है' की रदीफ मानकर चलिए तो सब ठीक है।

वैसे गजलें मैं इन बंदिशों के पालन के लिए नहीं कहता। अपनी बात और अपनी तकलीफ को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचाने के लिए कहता हूं···फिर भी संपादक लोग गड़बड़ी कर ही देते हैं···उस गजल का एक शे'र छूट गया—

यूं तो चिल्लाया है अकसर आदमी तकलीफ में
इतनी खामोशी से लेकिन आज तक चीखा न था।

उर्दू के हिसाब से मैं अपनी गलतियों से परिचित हूं। उर्दू में छपा तो ये कमियां निकाल दूंगा। जैसे एक गजल है—

जिस बात का खतरा था
सोचो कि वो कल होगी
जरखेज जमीनों में
बीमार फसल होगी।

उर्दू में शब्द फस्ल है। लेकिन मैं हिंदी में चाह कर भी न फस्ल लिख सकता हूं, न अस्ल।

फिर भी आपके स्नेह-सुझाव और इस्लाह के लिए आभारी हूं। कभी आएं तो मिलें जरूर।

आपका
दुष्यंत

धुंध और कांपता सन्नाटा

डॉ० मनोज माथुर

संस्मरण नहीं लिख रहा। कल्पना उड़ते-उड़ते थककर धरती की ऊबड़-खाबड़ राह पर उतर आई है। भीड़ के शोर में सुने शब्द बटोरकर घटनाओं का निर्माण कर रहा हूं।

ठोकर लगे पांव की पीड़ा कराह उठे और उससे किसी का सोया तार झंकृत हो उठे तो और बात है। कराहना नहीं चाहता। सारा दर्द पी जाना चाहता हूं।

पद्म, अकसर शराब खत्म होने के बाद, बोतल में जलती तीली डाल देता है। कैसी छन्न से आग उठती और बुझती है। और फिर देर तक बोतल में एक धुंध रह जाती है। पता नहीं अंदर धुएं का दम घुटता है या बोतल का।

लेकिन उसे देखते-देखते मेरी कल्पना कठोर धरातल पर किसी उठे नुकीले पत्थर की चुभन महसूस करती है। दर्द, ऊपर से नीचे तक झकझोर देता है। यह सब क्यों होता है? पता नहीं, पर होता है, यह सत्य है।

इसी अनुभूति के चारों ओर ताना-बाना बुन रहा हूं, इसीलिए स्पष्ट किया है कि संस्मरण नहीं लिख रहा। बोतल की धुंध में घटनाओं के प्रतिबिंब उभरते देखे। बस, वही चित्रित करने लगा हूं।

धुंध कहां नहीं है? घुटन से कौन बच पा रहा है?

···दिशाएं सिमटकर एक खाई में विलीन हो गई हैं। हो सकता है गहराई में, कोई कैक्टस का नन्हा सा फूल मुस्करा रहा हो।

···पहाड़ की ऊंचाई पर तो केवल सन्नाटा है।

किसी-किसी कांटेदार झाड़ी में सूखे बेर लटक रहे हैं। सूरज की सारी गरमी पीकर लाली आने से पहले ही त्वचा गुठली से चिपक गई है।

धुंध में आंखें गड़ाकर देख रहा हूं।

···यह राजभवन के पीछे बनी झोंपड़ियों के बाहर लावारिस बच्चे। बिलकुल बेर की तरह सूखे केवल झाड़ी से लटके···कितने साल हो गए, ट्रस्ट विथ डेस्टेनी किए। अभी तीन वर्ष पूर्व ही तो हमने धूमधाम से दीवाली मनाई थी, रजत पर्व की।

लेकिन अभी तक फसले-बहार इधर नहीं आई।

भूख है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ,
आजकल दिल्ली में है, जोरे बहस यह मुद्दआ।

लक्ष्मण खत्री कहता है—'यह सब बकवास है। पिछले अट्ठाईस साल में देश ने बहुत तरक्की की है।' शायद लक्ष्मण ठीक कहता हो। आई०ए०एस० अफसर है। वह बोलता है तो आंकड़ों को गिनाते हुए।

उस रात, शराब की महफिल बिगड़ गई। लक्ष्मण आंकड़े बता रहा था कि देश में क्या-क्या हुआ। मन्मथ के गले बात नहीं उतर रही थी।

अजीब आदमी है मन्मथ। साले के गले में न ज्यादा शराब उतरती है और न किसी और की बात। जैसा खिचड़ी खुद है, वैसा ही व्यवहार करता है। वकीली भी करता है और पत्रकारिता भी। दोनों में से एक भी ठीक नहीं कर पाता···पता नहीं क्यों मैं मन्मथ को चाहने लगा हूं। शायद दोनों की वेव लेंथ एक है। मेरी तरह वह भी लड़ाकू तबीयत का है।

लक्ष्मण बात भी पूरी नहीं कर पाया था कि मन्मथ बोल पड़ा—'सेक्रेटरी साहब, शराब की महफिल से अपना दफ्तर हटा लीजिए और कुछ शेरो-शायरी सुनाइए।'

उन दिनों प्रदेश के एक मंत्री जी बहक गए। मैं भी उलझ पड़ा। दो वर्ष निलंबित रहा। केवल आधी तनख्वाह पर गुजारा करता रहा। आर्थिक समस्याओं ने झकझोरा जरूर लेकिन सताया नहीं।

लेकिन उन दिनों की धुंध, भीतर बहुत गहरे नागिन सी बल खाकर बैठ गई। कई बार कमर बोझ से दोहरी हुई लेकिन सजदा करना स्वीकार नहीं था—

दुःख नहीं कोई अब उपलब्धियों के नाम पर,
और कुछ हो या न हो, आकाश-सी छाती तो है।

उस दिन ऑफिस से निकला तो भूरे चपरासी की बेवा ने पांव पकड़ लिए—'हुजूर, आठ महीने हो गए उसे मरे। एक पैसा भी नहीं मिला। कर्ज चढ़ गया है। दोनों वक्त मिल रहे हैं। भगवान् आपकी जोड़ी बनाए रखेगा।'

उस रात देर तक नींद नहीं आई। ऐसा क्यों होता है? बेवजह तंग करना। उसी का पैसा और उसकी मौत के बाद उसके अनाथ बच्चों को नहीं मिले। केवल इस कारण कि साहब को फुर्सत नहीं है।

दूसरे दिन बड़े साहब के पास गया। एक धक्का सा लगा—"साली जान खाए

लेती है।"

"बेचारी परेशान है, सर···" मैंने कहा।

"अरे परेशान-वरेशान कुछ नहीं है। कोई नया मरद करना होगा साली को। देखना पैसा मिला और···"

मुझे याद नहीं साहब क्या-क्या कह गए। मैं सोचता रहा बेचारी क्या करे।

इच्छा हुई साहब से उलझ पड़ूं। कैसे एक-एक टी०ए० बिल के लिए झगड़ते हैं। दौरे पर खाते-पीते मातहत के खर्च पर और पैसा लेते हैं सरकार से।

लेकिन मैं उलझा नहीं। कुछ दुनियादार हो चला हूं।

किंतु यह घुटन मेरे बस में नहीं है। दिल विद्रोह करता है और विवेक उसे रोकता है···

मत कहो आकाश में कुहरा घना है,
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।

सामाजिक तनावों को भोगता हुआ दुष्यंत

प्रेम शंकर

संवेदनशील प्रतिभाएं आखिर जल्दी क्यों चली जाती हैं? क्या उनकी जिंदगी भीतर ही भीतर एक तनाव भरी असंतुष्ट यात्रा से गुजरती है? सामने लहराता हुआ जीवन का समुद्र, और भाग्यशाली हैं वे हिसाबी-किताबी लोग जो दो-दो चार करने में ही लगे रहते हैं, सफल कहे जाते हैं। पर ऐसी भी चेतनाएं होती हैं जिनमें सामने की अथाह नीलिमा एक तूफान जन्मा जाती है। पर रचना की यह संवेदन भरी यात्रा इतनी आसान नहीं होती और संवेदनशील प्रतिभाएं गहरी कशमकश से गुजरती हैं। एक ओर उनका रचना-संसार है, जिसमें वे अपने संवेदन को उजागर करना चाहती हैं, दूसरी ओर दुनिया के दीगर आकर्षण हैं जो बार-बार उन्हें खींचने की कोशिश करते हैं। एक अजीब द्वंद्व से गुजरती हुई रचनाकार की जिंदगी कई बार कहीं बीच में ही लड़खड़ा जाती है···दुष्यंत अभी अपनी बात पूरी तरह कह भी नहीं पाए थे कि विदा ले ली।

याद आता है, पहली बार दुष्यंत को इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में जाना था, परिचय अजितकुमार ने कराया था। एक अच्छे नाक-नक्श वाला उत्साही नौजवान, जो चाहता था कि लोग उसकी उपस्थिति को महसूस करें। इसीलिए दुष्यंत कई बार गोष्ठियों में चौंकाने वाली बात कहते थे, लगभग रसभंग करते हुए। उनकी रचनाओं से गुजरते तो व्यक्ति दुष्यंत कुमार कई बार हावी होने की कोशिश करते। एक बार कुंवरनारायण के साथ फिर मुलाकात हुई, जब हम लखनऊ से 'युग चेतना' निकाल रहे थे और दुष्यंत अपनी संवेदनशीलता को लिए हुए सड़क नाप रहे थे, बेकार थे। बोले—'यार डॉक्टर, मुदर्रिसी मुझसे नहीं होगी, इसमें बड़ी बंदिशें हैं और मैं आजादी चाहता हूं। थोड़ा और भटक लूं, फिर देखूंगा।'

जब सागर आ गया तो भोपाल आने-जाने का सिलसिला शुरू हुआ और धनंजय वर्मा के माध्यम से मेल-मुलाकात के अधिक अवसर आने लगे। इन लोगों की महफिल जमा होती तो मैं बस जाता। दुष्यंत बेतकल्लुफी से कहते—'यार डॉक्टर, जिंदगी का क्या भरोसा! जितने दिन हूं, जी लूं।' फिर हंसकर कहते—'मुझे तो तुम

जैसे बेगुनाह लोगों पर दया आती है।'

मैं बात हंसी में टाल जाता, यही कहता—'यह महफिल जमी रहे, यही चाहूंगा।' जब एकाध शे'र सुना देता कि *हम देखने वालों की नजर देख रहे हैं* तो वे कहते, 'यह कुछ बात हुई।' कुछ समय से दुष्यंत को तनाव में देखा, जिसे वे रचनाओं में ढकेलने की कोशिश कर रहे थे। पर कोई तनाव जिंदगी के बड़े मुद्दों से जुड़कर ही रचना में पूरी अभिव्यक्ति पा सकता है। दुष्यंत समझते थे कि 'मैं कुछ हूं', और मुझे वह मौका नहीं मिल पा रहा है कि मैं प्रमाणित कर सकूं कि मैं क्या हूं। बात होती तो कहते—'यार, देखो किस कदर चुगद था, और कहां निकल गया।' मैं अपने मुदर्रिसी लहजे में समझाने की कोशिश करता कि भई, जिंदगी में सब चलता है। तुममें प्रतिभा है, उसे रचना की ऊंचाइयों पर ले जाने की चेष्टा करनी चाहिए। वे बात को बीच में ही काटकर कहते—'यार, वहां भी तुम लोगों ने बड़ा घपला कर रखा है।'

दुष्यंत में प्रतिक्रियाएं बहुत तेजी से जागती थीं और इसीलिए कई बार जल्दी में दोस्ती और हड़बड़ी में लड़ाई भी, इस लिहाज से वे बौद्धिक ढंग के ठंडे, सर्द व्यक्ति नहीं थे। कोई बात लग जाती तो तुरंत रिएक्ट करते, बहुतों को बैठे-ठाले नाराज कर लेते। जानता हूं, इस बीच उन्होंने, कुछ दोस्त खोए थे—छोटी-छोटी गलतफहमियों पर।

कवि दुष्यंत और व्यक्ति दुष्यंत काफी लड़ते-झगड़ते नजर आते हैं। काश, उनमें संगति बैठ पाती तो शायद इतनी जल्दी हमें उनकी चिता पर फूल न चढ़ाने पड़ते। उन्होंने अपने को कई दिशाओं में फेंकना चाहा और कई मोर्चे संभाले। नतीजा यह हुआ कि दबाव कहीं ज्यादा थे और बर्दाश्त की एक सीमा और वे टूटने लगे। चेहरे के तनाव अपनी ट्रेजिडी कह रहे थे। वे जिंदगी की सफलताएं भी छूना चाहते थे और रचना की भी।

'साये में धूप' निकलने से पहले ही दुष्यंत की गजलें लोकप्रिय हो चली थीं और वक्तव्यों के स्थान पर सूक्ष्म संकेत उनमें दिखाई देते हैं—*गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं, पांवों से पेट ढक लेंगे हम, आदमी को भूनकर खाने लगे हैं, एक कब्रिस्तान में घर मिल रहा है*''माना कि गजल आज की खुरदरी जिंदगी को संपूर्ण अभिव्यक्ति दे सकने का पूरा माध्यम नहीं है, पर दुष्यंत कोशिश में थे कि वे इसे ऐसा मोड़ दे सकें कि वह रोमानी सीमाओं को तोड़कर जटिल से जटिल संवेदन को व्यक्त कर सके।

'सूर्य का स्वागत', 'आवाजों के घेरे', 'जलते हुए वन का वसंत', 'एक कंठ

विषपायी' से लेकर 'साये में धूप' तक की काव्य-यात्रा में दुष्यंत एक प्रकार से अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हुए देखे जा सकते हैं।

दुष्यंत घूमते-फिरते गजल के क्षेत्र में आ गए थे और लगता था कि उनकी रचना ने एक वृत्त पूरा कर लिया है। तभी वे हमारे बीच से चले गए—जैसे किश्ती जब साहिल पा रही हो तभी तूफानी भंवर उसे निगल जाए और संभावनाओं का करुण अंत!

गजलें

(1)

रोज जब रात को बारह का गजर होता है,
यातनाओं के अंधेरे में सफर होता है।

कोई रहने की जगह है मेरे सपनों के लिए,
वो घरौंदा सही, मिट्टी का भी घर होता है।

सिर से सीने में कभी, पेट से पांवों में कभी,
एक जगह हो तो कहें दर्द इधर होता है।

ऐसा लगता है कि उड़कर भी कहां पहुंचेंगे,
हाथ में जब कोई टूटा हुआ पर होता है।

सैर के वास्ते सड़कों पे निकल आते थे,
अब तो आकाश से पथराव का डर होता है।

(2)

कहां तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए,
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है,
चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए।

न हो कमीज तो पांवों से पेट ढंक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफर के लिए।

खुदा नहीं, न सही, आदमी का ख्वाब सही,
कोई हसीन नजारा तो है नजर के लिए।

वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,
मैं बेकरार हूं आवाज में असर के लिए।

तेरा निजाम है सिल दे जुबान शायर की,
ये एहतियात जरूरी है इस बहर के लिए।

जिएं तो अपने बगीचे में गुलमोहर के तले,
मरें तो गैर की गलियों में गुलमोहर के लिए।

(3)

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं,
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।

अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,
ये कंवल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।

वो सलीबों के करीब आये तो हमको,
कायदे कानून समझाने लगे हैं।

एक कब्रिस्तान में घर मिल रहा है,
जिसमें तहखानों से तहखाने लगे हैं।

मछलियों में खलबली है, अब सफीने,
उस तरफ जाने से कतराने लगे हैं।

मौलवी से डाट खाकर अहले मकतब,
फिर उसी आयत को दोहराने लगे हैं।

अब नयी तहजीब के पेशे-नजर हम,
आदमी को भून कर खाने लगे हैं।

(4)

ये सारा जिस्म झुककर बोझ से दुहरा हुआ होगा,
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा।

यहां तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियां,
मुझे मालूम है पानी कहां ठहरा हुआ होगा।

गजब ये है कि अपनी मौत की आहट नहीं सुनते,
वो सब के सब परीशां हैं वहां पर क्या हुआ होगा।

तुम्हारे शहर में ये शोर सुन-सुनकर तो लगता है,
कि इंसानों के जंगल में कोई हांका हुआ होगा।

कई फाके बिता कर मर गया, जो उसके बारे में,
वो सब कहते हैं अब, ऐसा नहीं, ऐसा हुआ होगा।

यहां तो सिर्फ गूंगे और बहरे लोग बसते हैं,
खुदा जाने यहां पर किस तरह जलसा हुआ होगा।

चलो, अब यादगारों की अंधेरी कोठरी खोलें,
कम-अज-कम एक वो चेहरा तो पहचाना हुआ होगा।

(5)

खंडहर बचे हुए हैं, इमारत नहीं रही,
अच्छा हुआ की सर पै कोई छत नहीं रही।

कैसी मशालें लेके चले तीरगी में आप,
जो रोशनी थी वो भी सलामत नहीं रही।

हमने तमाम उम्र अकेले सफर किया,
हम पर किसी खुदा की इनायत नहीं रही।

मेरे चमन में कोई नशेमन नहीं रहा,
या यूं कहो कि बर्क की दहशत नहीं रही।

कुछ दोस्तों से वैसे मरासिम नहीं रहे,
कुछ दुश्मनों से वैसी अदावत नहीं रही।

हिम्मत से सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग,
रो-रो के बात कहने की आदत नहीं रही।

सीने में जिंदगी के अलामात हैं अभी,
गो जिंदगी की कोई जरूरत नहीं रही।

(6)

नजर-नवाज नजारा बदल न जाये कहीं,
जरा-सी बात है मुंह से, निकल न जाए कहीं।

वो देखते हैं तो लगता है नींव हिलती है,
मेरे बयान को बंदिश निगल न जाये कहीं।

यों मुझको खुद पे बहुत ऐतबार है लेकिन,
ये बर्फ आंच के आगे पिघल न जाये कहीं।

चले हवा तो किवाड़ों को बंद कर लेना,
ये गर्म राख शरारों में ढल न जाये कहीं।

तमाम रात तेरे मैकदे में मय पी है,
तमाम उम्र नशे में निकल न जाये कहीं।

कभी मचान पे चढ़ने की आरजू उभरी,
कभी ये डर कि ये सीढ़ी फिसल न जाये कहीं।

ये लोग होमो-हवन में यकीन रखते हैं,
चलो यहां से चलें, हाथ जल न जाये कहीं।

(7)

हालाते जिस्म, सुरते जां, और भी खराब,
चारों तरफ खराब, यहां और भी खराब।

नजरों में आ रहे हैं नजारे बहुत बुरे,
होंठों में आ रही है जुबां और भी खराब।

पाबंद हो रही है रवायत से रोशनी,
चिमनी में घुट रहा है धुआं और भी खराब।

सूरत संवारने में बिगड़ती चली गयी,
पहले से हो गया है जहां और भी खराब।

रोशन हुए चिराग तो आंखें नहीं रहीं,
अंधों को रोशनी का गुमां और भी खराब।

आगे निकल गये हैं घिसटते हुए कदम,
राहों में रह गये हैं निशां और भी खराब।

सोचा था उनके देश में महंगी है जिंदगी,
पर जिंदगी का भाव वहां और भी खराब।

(8)

चांदनी छत पे चल रही होगी,
अब अकेली टहल रही होगी,

फिर मेरा जिक्र आ गया होगा,
वो वरफ-सी पिघल रही होगी।

कल का सपना बहुत सुहाना था,
ये उदासी न कल रही होगी।

सोचता हूं कि बंद कमरे में,
एक शमआ-सी जल रही होगी।

शहर की भीड-भाड़ से बच कर,
तू गली से निकल रही होगी,

आज बुनियाद थरथराती है,
वो दुआ फूल-फल रही होगी।

तेरे गहनों-सी खनखनाती थी,
बाजरे की फसल रही होगी।

जिन हवाओं ने तुझ को दुलराया,
उनमें मेरी गजल रही होगी।

(9)

मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूं,
वो गजल आपको सुनाता हूं।

एक जंगल है तेरी आंखों में,
मैं जहां राह भूल जाता हूं।

तू किसी रेल-सी गुजरती है,
मैं किसी पुल-सा थरथराता हूं।

हर तरफ एतराज होता है,
मैं अगर रोशनी में आता हूं।

एक बाजू उखड़ गया जब से,
और ज्यादा वजन उठाता हूं।

मैं तुझे भूलने की कोशिश में,
आज कितने करीब पाता हूं।

कौन ये फासला निभायेगा,
मैं फरिश्ता हूं सच बताता हूं।

बुझी हुई लालटेन

उपन्यास-अंश : दुष्यंत कुमार

सत्यव्रत ऊपर, छत पर पड़ी हुई खाट पर लेटा था। बरसात की उमस भरी शामों में भी वह होस्टल की छत पर नहीं आया था। क्या पता कब उसकी आहट सुनकर विमला आ जाए और बिना बात की बात का बतंगड़ बन जाए। पर अब जिस दिन वह टहलने नहीं जाता, छत पर जरूर आता है। दशहरे के बाद से अब तक कई बार सत्यव्रत ने सोचा है कि अगर विमला दिखाई दी तो वह उसे प्रणाम जरूर करेगा। इसलिए नहीं कि वह फिर उससे सामीप्य बढ़ाए, बल्कि इसलिए कि विमला के मन की कटुता कम हो। अपमान की अग्नि में झुलसती हुई उसकी आत्मा को शांति मिले। मगर अब तक ऐसा अवसर उसे कभी नहीं मिला था।

दशहरे की छुट्टियां खत्म होने के बाद तो कई दिनों तक शाम को सत्यव्रत बाहर भी नहीं निकला था। इसी आशा में कि कहीं पीछे चौधरी साहब का बुलावा न आ जाए। किंतु उसे नहीं बुलाया गया और उसकी सारी आशाएं धीरे-धीरे बुझ गईं। अब किसी उजड़ी हुई प्रदर्शनी की तरह केवल उनकी स्मृतियां शेष हैं। आज उस व्यक्ति की तरह, जिसने भरे-पूरे सौंदर्य में प्रदर्शनी देखी हो, सत्यव्रत को भी अनिर्वचनीय सा मलाल होता है। अनायास जाने कब पढ़ी एक कविता की पंक्ति उसके हृदय में उभर आती है···*तट पर रखकर शंख-सीपियां चला गया है ज्वार हमारा।*

रोज ही जब शाम के लाल होते हुए क्षितिज पर धीरे-धीरे अंधेरे के सुरमई डोरे उभरने लगते हैं, तो सत्यव्रत को बरबस विमला की याद आ जाती है। ऐसे ही लज्जा से आरक्त होकर वह उसकी निकटता प्राप्त करने की कोशिश किया करती थी और कोई उत्साहप्रद प्रत्युत्तर न पाकर इसी तरह बुझ जाया करती थी।

आज रात को आठ बजे होस्टल में टीचर्स एसोसिएशन की मीटिंग है, इसलिए सत्यव्रत टहलने नहीं जा सका। अतः ऊपर पड़ा-पड़ा वह आसमान के बदलते हुए रंगों को देख रहा है।

धीरे-धीरे पश्चिमी क्षितिज में चांद उग आया। अंधेरे की काली लटों से झांकता हुआ चांद आज सोलहों कलाओं से युक्त नहीं था। पूर्णमासी को समस्त कलाएं जब पूर्ण होंगी, तभी इसका सौंदर्य भी विकसित होगा। सत्यव्रत को अनुभव हुआ कि अभी तो इस चांद में कोई विशेषता नहीं है। तो फिर संस्कृत साहित्य में चंद्रमा की सौंदर्य-स्तुति में वर्णित अनेक काव्यांश क्या यों ही हैं? और उसके स्मृति-पटल पर अनेक कविताएं उभरने लगीं। किसी में चंद्रमा को चंदन के समान शीतल कहा गया था, तो किसी में अमृत के समान मधुर। उन्हें याद करते हुए उसने अपने ऊपर चांद की प्रतिक्रिया जानने की कोशिश की तो लगा कि चांद को देखकर उसकी उदासी थोड़ी और बढ़ गई है। उसके भीतर का शून्य और गहरा उठा है और अकेलेपन का अहसास उसे और तीव्रता से होने लगा है।

जब से दशहरे की छुट्टियां खत्म हुई हैं, या जब से विमला ने उसे पढ़ाने के लिए नहीं बुलवाया, तभी से अकेलापन उसके लिए समस्या बन गया है। हर शाम एक प्रश्नवाचक चिह्न की तरह उसके सामने आ खड़ी होती है कि वह उसे कैसे हल करे? कहां जाए? अकसर···अपने को ईमानदारी से टटोलकर सत्यव्रत ने स्वयं से प्रश्न किया है···क्या ऐसा विमला से अलगाव के कारण ही होता है? और अकसर यह सवाल अनुत्तरित रहकर भीतर ही भीतर गूंजता-उतरता चला गया है। फिर एक और प्रश्न उसके मन में उठा है—तुम ऐसी स्थिति में विमला से क्या आशा करते थे? और इसकी प्रतिक्रिया भी आत्मा में ठंडे, बर्फीले बरछे के स्पर्श जैसी हुई है।

सत्यव्रत अपने आप से केवल इतना कहता है कि विमला को उतनी जरा सी बात पर ऐसे नहीं रूठना चाहिए था कि पढ़ना तक बंद कर दे, इधर-उधर दिख जाए तो साधारण शिष्टाचार तक न बरते या उसे एक बार भी अपने घर न बुलवाए।

सत्यव्रत रोजाना ऐसे ही सवालों से उलझता है। अकसर शाम को वह छोटे तालाब के किनारे जाता है और पाता है कि कई छोटे-छोटे सवाल खजूरों, नीमों और जामुनों के पेड़ों-तले आसन जमाए उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। सब किसी न किसी रूप में विमला से संबद्ध हैं। उनकी चाल-ढाल, रंग-रूप और आकृति पर भी विमला के किसी न किसी अंग का प्रभाव है। हवा का तेज झोंका आता है तो खजूर के लंबे-लंबे पंखों के साथ पूरा पेड़ ऐसे झटका खाता है, जैसे विमला बात करते-करते गरदन हिला दिया करती थी। सत्यव्रत अचानक सिहर उठता है और तभी एक छोटा सा सवाल पेड़ के नीचे से उसके सामने आ खड़ा होता है···बोलो, क्या विमला सुंदर नहीं है?

ऐसी ही परिस्थिति में, कल एक सवाल से घबराकर उसने हाथ में छोटी सी

कंकरी उठा ली थी और अनायास प्रश्न पर ताककर दे मारी थी। और फुच्च की एक आवाज के साथ कंकरी तालाब के पानी में जा गिरी थी और कुछ दूर तक पानी की सतह कांप कर रह गई थी। सत्यव्रत ने सजग होकर ऊपर देखा था कि कोई पंछी तो उसके शीश के ऊपर नहीं मंडराने लगा है? और आश्वस्त होकर वह जमीन पर कुछ उलटी-सीधी लकीरें खींचने लगा था। उसके हृदय में उद्विग्नता और हाथ में फिर एक कंकरी आ गई थी, जिससे वह जमीन खुरच रहा था। तभी सामने वाले प्रश्न ने अचानक विमला की आकृति धारण कर ली और उसके हाथ की कंकरी से भयभीत हुए विना तड़पकर कहा—'तुम''तुम या तो ढोंगी हो या नपुंसक!'

विमला के थरथराते-कांपते होंठों और भिंचे हुए दांतों के दुर्ग से निकला हुआ यह वाक्य तीर की तरह सत्यव्रत के सीने पर आ लगा। वह तत्काल सजग होकर वर्तमान में लौट आया। बीसियों दिन पहले की उस रात का अंधकार उसकी सुधियों में आलोकित हो उठा''।

''विमला गीतों से लौटकर नहीं आई थी। बारह का घंटा बज चुका था और सत्यव्रत तख्त पर पड़ा हुआ बेचैनी से करवटें बदल रहा था। ऐसी ही मनःस्थिति में, आर्यसमाज मंदिर में तख्त की उभरी हुई कील उसके चुभ गई थी। वह सोचने लगा कि आज भी कहीं चुभ जाए ताकि वह उस दर्द में डूबकर इस अंतर्द्वंद्व की दम घोंटने वाली स्थिति से छुटकारा पा सके। और इसी प्रतीक्षा में वह कई बार पूरे तख्त पर इधर से उधर तक लुढ़क गया, मगर उसके कोई कील नहीं चुभी गोकि तख्त पर एक चटाई के अलावा और कुछ न बिछा था।

होस्टल में गहरा सन्नाटा था। मगर उसे नींद नहीं आ रही थी। विमला का 'दरवाजा खुला रखना' कहते समय विवर्ण, दयनीय मुख उसकी पलकों में कांटे की तरह अड़ा था। इसके सिवा कोई चारा न था कि वह खुली आंखों अंधकार को निहारता रहे और अपने अंक में भरता रहे।

विमला को मुझसे क्या काम हो सकता है? उसने कोठरी के अंधकार से पूछा था और उत्तर में उसके दिमाग में सांकलें बजने लगी थीं, कनपटियां गर्म हो गई थीं और रक्त नसों के अंदर झनझनाकर दौड़ने लगा था और''मगर उस दिन भी तो उसने पूछा था—'क्या जाकर फौरन सो जाओगे?' और वह नहीं आई थी। पर, सत्यव्रत को लगा, उसने उसकी बात का यही अर्थ क्यों निकाला कि वह आना चाहती थी। क्या ऐसा प्रश्न यों ही नहीं पूछा जा सकता?

हां, उस दिन यदि वह फौरन नहीं तो कुछ देर बाद जरूर सो गया था। मगर

आज''आज विमला आएगी तो जरूर! कितने साफ शब्दों में उसने कहा है—'गीतों से लौटते में आऊंगी।' और विमला के वाक्य के पीछे निहित दृढ़ निश्चयात्मकता को याद करते ही सत्यव्रत की सांसों की रफ्तार चौगुनी बढ़ गई। वह आवेश में आ गया, जैसे सामने खड़े किसी शत्रु को कुचलकर चकनाचूर कर देगा। उसकी इच्छा हुई कि उठकर दरवाजा कसकर बंद कर दे और सांकल लगाकर लेट जाए।

मगर वह उठने को हुआ तो लगा कि सारी शक्तियां जवाब दे चुकी हैं और वह उठ भी नहीं सकता। किंतु आशंकाएं जरूर उसके मन में उठ खड़ी हुईं''मान लो, उसने दरवाजा बंद कर लिया और विमला ने आकर धक्का दिया तो''? कितनी आवाज करते हैं ये किवाड़ और फिर इतना गहरा सन्नाटा कि सुई भी गिरे तो आवाज सुनाई दे। हो सकता है, उसके घर में कोई उसका इंतजार कर रहा हो और खड़का सुनकर इधर ही आ जाए।

तभी बाहर कोई बैल या बिजार सड़क से गुजरा तो सत्यव्रत के दिल की धड़कन बढ़ गई। शिराओं में से रक्त फूट पड़ने को हो आया और एक पल के बाद उसने महसूस किया कि वह कितना दुर्बल व्यक्ति है, जो एक जरा से संवेग को वश में नहीं कर पा रहा। व्यर्थ ही एक जरा सी बात को इतना महत्त्व दिए बैठा है। उसने अगर कह दिया कि वह आएगी, तो क्या जरूरी है कि वह आए! और आई भी तो कौन उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा? उसे लगा कि इस तर्क-वितर्क से उसे राहत मिली है और उसके रक्त की गति सामान्य हो गई है। निश्चिंत होकर उसने टांगें फैलाईं और अंधेरे में छत की कड़ियां देखने की कोशिश करने लगा।

"सो गए क्या?" विमला ने फुसफुसाकर दबे पांव कमरे में घुसते हुए कहा।

सत्यव्रत हड़बड़ाकर बैठा हो गया। विमला हाथ की लालटेन का घोड़ा दबाकर चिमनी ऊपर उठाने की कोशिश कर रही थी ताकि उस धीमी सी रोशनी को फूंक मारकर बुझा सके। सत्यव्रत को लगा उसके भीतर भी संयम की ज्योति धीमी पड़ गई है और कोई है जो इसी तरह फूंक मारकर उसे बुझा देना चाहता है। तत्काल वह समझ नहीं सका कि उसे क्या करना चाहिए।

विमला ने चिमनी उठाकर लालटेन बुझा दी थी और तख्त के पास खड़ी होकर उसी की तरफ देख रही थी। शायद अंधेरे से अपने आप को अभ्यस्त करने का प्रयत्न करती हुई अगले कदम के संबंध में भी विचार कर रही थी। शरत् के उपन्यासों का हलका-सा नशा उसकी अंतश्चेतना पर छाया था और वह अपने आप को पारो की स्थिति में रखकर सोच रही थी''। अभी देवदास उससे पूछेगा कि तुम क्यों आई, विमला? और वह उत्तर देगी—मैं''मैं''?

सहसा उसे ध्यान आया कि वह खड़ी है और उसका यहां ज्यादा देर रुकना खतरनाक है। आखिर गीतों की आवाज आनी खत्म हो गई है तो बाबू जी इतना तो सोच ही सकते हैं कि विमला अभी तक क्यों नहीं आई! बोली—"मुझे बैठने के लिए भी नहीं कहोगे?"

सत्यव्रत केवल सफेद वस्त्रों में आवृत्त एक छाया ही देख रहा था। किंकर्तव्यविमूढ़, हतप्रभ और अवाक्-सा। अब उसे लगा कि छाया में स्पंदन भी है और जीवन भी और उसके प्रति उसे कुछ सामाजिक शिष्टाचार का पालन भी करना है। वह फौरन तख्त पर सिरहाने की ओर खिसकते हुए धीरे से बोला—"हां-हां, बैठो।"

फिर एक पल खामोशी में जीने के बाद उसने संज्ञा प्राप्त की और मन ही मन, जैसे वाक्यों के सहारे अर्धमृत चेतना को खड़ा करते हुए बोला—"तुम इस समय क्यों आई, विमला?"

"मैं क्यों आई हूं?" विमला ने उसी के प्रश्न को दोहराते हुए कहा, जैसे उसने कोई बड़ा अनपेक्षित प्रश्न पूछा हो और वह इसके लिए कतई तैयार न हो। फिर क्षण रुककर धीरे से बोली—"पानी की छोटी-छोटी धाराएं नदियों की ओर क्यों बहती हैं? और क्यों नदियां इधर-उधर बहती हुई समुद्र के ही पास जाती हैं?" बोलो, इस बात का कोई उत्तर है तुम्हारे पास? यदि है, इस बात का कोई उत्तर, तो बस, वही मेरा भी उत्तर है। यदि नहीं, तो समझ लो कि मेरे पास भी कोई उत्तर नहीं'''देने के लिए समझ लो कि मैं भी एक छोटी सी सरिता हूं और अपने समुद्र के किनारे आकर ठिठक गई हूं। बस, यही मेरी गति है।

शुरू में तो सत्यव्रत ने जैसे कुछ नहीं सुना, अथवा सुनकर भी समझ नहीं सका, मगर ज्यों-ज्यों विमला बोलती गई, त्यों-त्यों वाक्यों की भावना और संदर्भ उसकी समझ में आता गया। साथ ही उसका विवेक भी लौट आया और उसका शिक्षक जागकर उसे सतर्क करने लगा कि सुंदर-मनोरम वाक्यों में निहित हर अर्थ सुखद नहीं होता। और यह उसके अपने हाथ में है कि वह भावना के प्रवाह में बहकर अपने भीतर की ज्योति को बुझा दे या उसे प्रज्वलित रखे।

कोई उत्तर न पाकर विमला ही बोली थी—"अब यह समुद्र की महानता पर निर्भर है कि वह अपने तक आई नदी का स्वागत किस तरह करे। पर नदी की गति तो समुद्र ही है।"

सत्यव्रत बनियान और घुटन्ना पहने था और अंधेरे में भी उसे रह-रहकर अपनी निर्वसनता की लज्जा का अनुभव हो रहा था। एकाएक विमला के वाक्यों को सुनकर उसे लगा कि ये संवाद उसने विमला के ही दिए हुए किसी उपन्यास में पढ़े हैं। और

अचानक उसे लगा कि उसके सामने आया संकट टल गया है और घुटने टेकती हुई नैतिकता सीधी खड़ी हो गई है।

विमला की प्रतीकात्मक भाषा को अभिधार्थ देते हुए किंचित् क्रोध से तड़पकर उसने कहा—"तुम कहानियों और उपन्यासों की भाषा का सहारा लेकर अपनी जिस शारीरिक वासना को तृप्त करना चाहती हो, वह मुझसे संभव नहीं! मैं तो रेगिस्तान हूं'''ऐसे संस्कारों का रेगिस्तान, जहां जाकर वासना की बड़ी से बड़ी नदी सूख जाती है। मैं तुम्हें निश्चित रूप से बता देना चाहता हूं कि जो देह सामाजिक निकष पर कसकर नियमों-प्रतिनियमों के अनुरूप मुझे नहीं मिली—मैं उसका उपयोग नहीं कर सकता।"

विमला स्तब्ध रह गई। ऐसी स्थिति में, जैसे शरत्चंद्र की पारो को देवदास के मकान से निकलते हुए सैकड़ों आदमियों ने देख लिया हो और सब उसके चरित्र पर उंगलियां उठा रहे हों।

कहां विमला की उसके चरणों में समर्पित हो जाने की छोटी सी चाह और कहां इतना बड़ा चारित्रिक लांछन! उसने तो कभी शारीरिक संदर्भों में सोचा भी नहीं। दूसरे, सत्यव्रत के व्यक्तित्व से जिस पावन उज्ज्वलता का तेज टपकता है, उसको देखकर ऐसी बात सोची भी नहीं जा सकती। उसे तो सिर्फ यही लगता रहा है कि वह इन चरणों में बैठकर जीवन बिता दे। फूल की तरह अपनी सारी गंध अर्पित करके किसी उपन्यास की नायिका बन जाए और अस्तित्व की सार्थकता का बोध अनुभव करे।

सत्यव्रत की बात से वह तिलमिलाकर रह गई। अगर वह तख्त पर बैठी न होती तो निश्चय ही डगमगाकर गिर पड़ती। फिर भी उसने अपने दोनों हाथ तख्त पर टिका लिए।

विमला की खामोशी को सत्यव्रत ने अपने भाषण का प्रभाव समझा। अतः उन्हीं सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए बोला—"ये तो चोरी है विमला! यह उसी तरह का अपराध है, जैसे बिना श्रम किए अपहृत धन पर भोग-विलास करना। सबके सामने विधिपूर्वक त्याग, सम्मान या पारिश्रमिक, किसी भी उपलक्ष्य में दिया गया धन जैसे भोग्य होता है, उसी प्रकार विवाह की वेदी पर पवित्र होकर मिली नारी की स्थिति होती है। मैं इसी कारण इन संबंधों को अनैतिक मानता हूं कि तुम मुझे पत्नी रूप में प्राप्त नहीं हो।"

विमला चुपचाप तख्त से उठ गई। सत्यव्रत ने अंधकार में उसे देखने की और उसकी सिसकियों का अनुमान लगाने की कोशिश की। परंतु संभवतः विमला की

आंखें गीली न थीं, न उसका कंठ अवरुद्ध। वरना अब तक आंसुओं का झरना फूट पड़ता और सिसकियां वातावरण में सुबकने लगतीं। विमला ने चुपचाप आगे बढ़कर कोने से लालटेन उठाई और दरवाजा खोलने को बढ़ी। सत्यव्रत से उसकी यह निष्क्रियता न सही गई तो विमला की मनःस्थिति का सही अनुमान लगाने के लिए उसने कहा—"तुम मुझे समझने का प्रत्यन करना विमला!"

कोठरी की खामोशी में सत्यव्रत के शब्द तुरंत घुल गए। सांसों की धड़कनें भी सुनाई दे रही थीं। विमला ने दरवाजा खोल लिया था। सत्यव्रत की बात सुनकर गरदन पीछे घुमाई और बोली—"मैं तुम्हें खूब समझ गई हूं। तुम···तुम या तो ढोंगी हो या···या नपुंसक!"

और वह तुरंत बाहर चली गई। सत्यव्रत खड़ा का खड़ा रह गया। उसकी सारी कल्पनाओं को जैसे किसी ने सामने उठाकर एक नंगी-स्याह चट्टान पर पटक दिया। अपनी बातों की ऐसी प्रतिक्रिया की उसने कल्पना भी नहीं की थी। कितनी हिकारत, कितनी घृणा और कितनी गहन एवं तीव्र विरक्ति से रुक-रुककर उसने कहा था—"तुम···तुम···या तो···" और इस वाक्य को याद करते ही सत्यव्रत उसकी मुखमुद्रा का काल्पनिक चित्र बनाने लगता है कि उसके गले की नसें उभर आई होंगी और नथुने फूल उठे होंगे, और मन का सारा उबाल और आवेश इन्हीं शब्दों की अभिव्यक्ति में उतर आया होगा।

सत्यव्रत को देर तक कोठरी में वही वाक्य गूंजता सुनाई देता रहा।

अचानक होस्टल के आंगन में उठता हुआ हलका-हलका शोर एकदम हलका हुआ और सत्यव्रत का ध्यान उचटकर नीचे चला गया। बराबर की छत सूनी है। उस पर विमला के आने की अब कोई आशा नहीं। वह नीचे उतरने लगता है। बांस की सीढ़ी से सावधानीपूर्वक उतरते हुए उसे लगता है कि व अपनी मंजिल दूर पीछे छोड़ता जा रहा है।

नीचे, अपने-अपने कमरों में लालटेन जलाए लड़के खुसुर-पुसुर कर रहे हैं। सत्यव्रत अपनी कोठरी की ओर देखता है। उसमें भी प्रकाश है। तीन-चार लड़के हैं, जो धीरे-धीरे कुछ बोल रहे हैं। आंगन पार करके सत्यव्रत अंदर घुसता है तो एक क्षण के लिए बातचीत रुक जाती है। तख्त से उठकर जयप्रकाश हाथ पकड़कर सत्यव्रत को बराबर में बिठाता है—"माफ करना, मास्टर साहब, मैं एक घंटा पहले ही आ गया। कमरे पर तबीयत ही नहीं लगी। फिर इन लड़कों से कुछ बातें भी करनी थीं।"

"लड़कों से?" सत्यव्रत ने सहज होकर पूछा।

"हां, जयप्रकाश ने उत्तर दिया और लड़कों को डांट पिलाकर भगाते हुए उसने सत्यव्रत को बताया, शहर में एक ज्योतिषी आया हुआ है, जो दो रुपए लेकर आपके दिए हुए किसी भी नाम का भविष्य बताता है। ये लड़के आज उसे आठ-दस रुपए पूज आए हैं।"

सत्यव्रत पूर्ण रूप से संभल चुका था। जयप्रकाश की बात पर उसे हंसी आ गई। बोला—"आप वहां कैसे जा पहुंचे?"

"मैं?" जयप्रकाश ने कहा, "मुझे पंजे पनवाड़ी पकड़कर ले गया था। उसी ने दो रुपए खर्च किए मेरे लिए भी। मैंने उससे आपका भविष्यफल पूछा था।"

"मेरा?"

"हां!" मैंने सोचा, "आपको इस ज्योतिष-वोतिष पर बड़ा विश्वास है।"

"ऐसा तो नहीं है!" सत्यव्रत ने अपनी उत्सुकता को छिपाते हुए कहा। फिर भी, क्या कहा उसने?

जयप्रकाश ने एक क्षण का विराम लिया और इधर-उधर देखकर पलकें झपकाते हुए बोला—"उसने सरासर बकवास की। बताया कि यह युवक किसी नारी के कारण घोर मानसिक द्वंद्व की स्थिति में है।"

"अच्छा!" सत्यव्रत ने चकित होने की असफल चेष्टा करते हुए कहा, "और क्या कहा?"

जयप्रकाश बाहर से थोड़ी कृत्रिम हंसी हंसा। बोला—"और मैंने उसे कुछ कहने ही नहीं दिया।" मैंने कहा, "क्या बकवास करते हो? जानते हो जिस व्यक्ति के भविष्य के विषय में मैंने पूछा है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी है! उसका ऐसी बातों से कोई संबंध नहीं।" और मैं उठकर चला आया।

सत्यव्रत चुप हो गया। वह सोचने लगा, उस दिन विमला के संबंध में राजेश्वर ने कुछ मजाक छेड़ा था तो उसने गंभीरता से कहा था—"आप लोग कुछ समझें राजेश्वर भाई, किंतु मैं उसे मात्र शिष्या मानता हूं।"

"तो आप उसे नारी नहीं मानते?" राजेश्वर ने पूछा था। आप नारी-पुरुष के सहज आकर्षण को कैसे झुठला सकते हैं? क्या आप कह सकते हैं कि उसके मन में आपके प्रति कोई कोमल भावना नहीं है?

"उसके मन में होगी!" सत्यव्रत ने असत्य उच्चारण से बचते हुए कहा, "किंतु मैं शिष्या के नाते उसे आत्मजा मानता हूं और वह चाहे कैसी भी भावनाएं रखे, मेरे विचारों में परिवर्तन नहीं हो सकता। जो आत्मजा है, वह कभी भी अर्द्धांगिनी नहीं

हो सकती।"

"क्या बात करते हो, यार! सैकड़ों शिष्याएं पत्नियां हो गईं!" राजेश्वर ने हंसकर कहा, "साली का पकड़ो हाथ और भगाकर ले जाओ। दो साल बाद सीधे प्रिंसिपल होगे। इस ढकोसले में क्या धरा है?"

तब जयप्रकाश बोला था—"नहीं ठाकुर, मास्टर साहब ढोंग या ढकोसला नहीं करते। पर हां, इतना मैं भी मानता हूं कि खून के अलावा नारी से पुरुष के और सारे संबंध बड़े पोले होते हैं। ऐसे संबंधों में नारी को जो लोग समझते हैं कि वह फ्रेंड, शिष्या है, मित्र की बहन है, या बहन की सहेली है और निकटता बढ़ाते रहते हैं, वे दरअसल अपनी अतृप्त काम भावनाओं को तृप्त करते हैं और अपने आप को धोखा देते हैं।"

"वही तो ढोंग हुआ!" राजेश्वर बोला।

"नहीं, वह आत्मवंचना हुई," जयप्रकाश ने कहा। ढोंग दूसरे को धोखा देने के लिए किया जाता है और आत्मवंचना में आदमी मिथ्या मर्यादाओं की आड़ में खुद का दमन करता और खुद को धोखा देता है।

जयप्रकाश ने सत्यव्रत और विमला के संदर्भ में प्रसंगवश ही आत्मवंचना शब्द का प्रयोग किया था। किंतु अब ज्योतिषी के वही बात बताने पर जयप्रकाश ज्योतिषी को भला गलत क्यों कहता है—यह बात सत्यव्रत की समझ में न आई। वास्तव में उसे ज्योतिषी के उत्तर पर खुद आस्था हो गई थी। आखिर वह पूछ ही बैठा—"मगर आपको अविश्वास कैसे हुआ? आप तो···"

बात काटकर जयप्रकाश बोला—"तो क्या सचमुच द्वंद्व है मन में?"

एक पल का असमंजस झेलकर कुछ झिझकते हुए सत्यव्रत ने स्वीकृति में गरदन हिला दी।

"उसी के कारण?" जयप्रकाश ने आश्चर्य-भावना पर नियंत्रण करते हुए उंगली से बाईं ओर चौधरी साहब के मकान की ओर इशारा करते हुए पूछा।

"हां।" सत्यव्रत ने फिर स्वीकृति दी।

जयप्रकाश गंभीर हो गया और कुछ सोचकर बोला—"अच्छा, इस समस्या पर फिर बातें करेंगे। यह तो भावात्मक समस्या है। अभी जो भौतिक समस्याएं पड़ी हुई हैं, उन्हें सुलझा लें। पहले ये बताइए कि आज के 'एजेंडे' में क्या-क्या विषय रखे हैं आपने?"

सत्यव्रत फिर सामान्य हो आया। टीचर्स एसोसिएशन के जनरल सेक्रेटरी के नाते मीटिंग की सूचना एवं कार्यक्रम-विवरण सत्यव्रत के हस्ताक्षरों से ही

अध्यापकों में प्रचारित हुआ था। बोला—"वही वेतन। सारे अध्यापक ऋण ले-लेकर काम चला रहे हैं। मैं स्वयं छात्रों के व्यय पर भोजन कर रहा हूं। इस स्थिति का अंत कब होगा? मैं तो समझता हूं यदि एसोसिएशन स्वीकार करे तो आज ही हमारे कुछ प्रतिनिधि जाकर व्यवस्था समिति के प्रधान, उपप्रधान एवं मंत्री महोदय आदि से मिलें और उन्हें स्थिति से अवगत कराएं।"

"तो आप भी मैनेजमेंट के विरोध पर आ ही गए?" जयप्रकाश हंसकर बोला।

"नहीं, मैंने तो केवल सत्य और न्याय की बात उठाई है। किसी के विरोध का इसमें प्रश्न कहां है?"

"सत्य और न्याय का प्रश्न उठाना और अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए कृत-संकल्प होने का अर्थ ही यह है कि कहीं विरोध है। कहीं असत्य और अन्याय है। कहीं आपके अधिकारों का हनन हो रहा है।" जयप्रकाश उसी सहज मुस्कान से बोला।

"लेकिन हम मैनेजमेंट की निंदा या भर्त्सना तो नहीं करते!" सत्यव्रत ने कहा।

"क्यों, क्या आप जब अपना अधिकार मांगते हैं तो उससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि आपके अधिकार किसी व्यक्ति या संगठन द्वारा दबा लिए गए हैं। क्या आप जब सत्य और न्याय मांगते हैं। तो उससे यह आशय प्रकट नहीं होता कि आपको अन्याय और असत्य मिला है? और···"

जयप्रकाश अगला वाक्य बोल नहीं पाया था कि दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी। गुप्ता जी और रस्तोगी थे। कुछ दूर के फासले पर रामाधीन श्रीवास्तव और शास्त्री जी भी झूमते हुए चले आ रहे थे। सत्यव्रत ने दरवाजा खुला छोड़ दिया। आठ बजने में पांच मिनट बाकी थे। थोड़ी ही देर में सब लोग जमा हो जाएंगे।

सत्यव्रत ने फिर पिछले सूत्र पकड़ते हुए कहा—"वेतन का प्रश्न मेरे अकेले का प्रश्न नहीं है।"

"मगर मुझे इसमें कहां आपत्ति है?" जयप्रकाश ने मासूमियत से मुस्कराकर कहा, "मैं तो उन दिनों की बात कह रहा हूं, जब आप मेरी बातों को मैनेजमेंट का अकारण विरोध कहकर मुझे ही गलत समझते थे। अब आपको अनुभव हुआ!"

गुप्ता जी, रस्तोगी, श्रीवास्तव और शास्त्री जी, चारों ने आराम से बैठकर बहस में दिलचस्पी ली। गुप्ता जी बात समझे बिना ही बोले—"हां, भई, अब तो एड (अनुदान) भी आ गई है। अब भी तनख्वाह न मिले तो हद है!"

श्रीवास्तव आगे को होते हुए धीरे से बोले—"आपको मालूम है, कल प्रिंसिपल ने दयाल, गुरु, हरिप्रसाद और मित्तल, चारों को बुलवाया था और उनसे कहा था कि

आप एक महीने की तनख्वाह छोड़ दें, तो मैं आपको अभी तनख्वाह दिलवा दूंगा। आपकी रिपोर्ट में यह बात लिखी जाएगी कि आपने कॉलेज को डोनेशन (दान) दिया है। और वे लोग मान गए।"

"मान गए?" जयप्रकाश ने साश्चर्य से पूछा।

"अरे, जभी तो उन्हें तनख्वाह दे दी गई!"

शास्त्री जी बोले—"मैं भी आज सर्वसज्जनों के समक्ष अपनी व्यथा रखूंगा। मैं कितने वर्षों से उच्च कक्षाओं के छात्रों को पढ़ा रहा हूं, किंतु वेतन मुझे सहायक अध्यापक का ही मिल रहा है और जिस वर्ष मैं अपने अधिकार के लिए समिति के सामने प्रश्न उठाता हूं, उसी वर्ष वे संस्कृत प्राध्यापक का स्थान पत्रों में विज्ञापित करके आवेदन-पत्र आमंत्रित करते हैं। और मुझे अपदस्थ करने का भय दिखाकर चुप करा देते हैं। मेरे साथ घोर अन्याय हो रहा है।"

इस पर श्रीवास्तव और रस्तोगी दोनों ही बोल उठे—"विषय को उलझाइए मत, शास्त्री जी। आज सिर्फ वेतन वाली बात तय होगी।"

शास्त्री जी के कुछ बोलने के पूर्व ही उत्तमचंद्र, पाठक और राजेश्वर आते दिखाई दिए। निम्न कक्षाओं के अध्यापक भी उनके पीछे आ रहे थे। सबके आने और विधिवत् कार्रवाई शुरू होने की प्रतीक्षा में लोग थोड़ी देर के लिए शांत हो गए।

अप्रकाशित उपन्यास का एक अंश

भट्टाचार्य के बहुत आग्रह करने पर मैं नाटक का एक रिहर्सल देखने चला गया।

एक बड़े से हॉल-कमरे में नाटक की तैयारियां हो रही थीं। एक बडे पावर का बल्ब कमरे के बीचोबीच लटक रहा था और उसके नीचे घूमते-फिरते नाटक के पात्र पुतलों की तरह लगते थे। कमरे में चटाइयां बिछी थीं और जगह-जगह मेकअप का सामान, साड़ियां और कपड़े तथा नकली दाढ़ी-मूंछें बेतरतीब सी पड़ी थीं।

अन्नी इस सबको देखकर बहुत खुश हुई।

भट्टाचार्य ने मुझे आया देखकर बड़े तपाक से मेरा स्वागत किया और कोने में पड़ी कुर्सी से साड़ियां हटाकर बैठने का विनम्र आग्रह करते हुए दूसरे कलाकारों से मेरा परिचय कराने लगा—"आप हैं अर्पिता के भाई और हिंदी के प्रसिद्ध कवि, राजीव लोचन अग्निहोत्री। इस नाटक की भाषा को बनाने में आपका बहुत बड़ा हाथ है।"

"भय्या तू!" अर्पिता ने बड़े से शीशे के सामने से गर्दन घुमाकर मेरी ओर देखा और फिर अन्नी को साथ पाकर इस तरह मेरी ओर झपटी जैसे बाज किसी चिड़िया पर झपटता है।

अन्नी किलकारियां मार-मारकर हंसने और उसका मुंह चूमने लगी। लेकिन जैसे ही उसकी जीभ को मेकअप का जायका महसूस हुआ, उसने 'छी-छी' करके मुंह पीछे हटा लिया।

सब लोग खिलखिलाकर हंस पड़े।

अर्पिता देर तक हंसती रही। वह बहुत खुश थी। बहुत प्यारी भी लग रही थी। भौंहों को और नुकीला बनाकर उसने बाएं गाल पर तिल लगा लिया था और थोड़ा सा अभ्रक छिड़ककर चेहरे पर चमक लाने की कोशिश की थी।

मैंने भट्टाचार्य से कहा—"अभी से मेकअप! क्या फाइनल रिहर्सल है आज?"

"नहीं, यों ही, आज सबका मन था कि बाकायदा स्टेज रिहर्सल करें।" भट्टाचार्य ने स्थिति स्पष्ट की। वही इस नाटक का निर्देशन कर रहा था। साहित्यिक नाटकों के मंचीकरण की झंझटों का जिक्र करते हुए बोला, "आप देखिए न कि अभी तक लोग प्राम्पटिंग से ही चिपके हुए हैं। लेकिन मैंने तय कर लिया है कि जब तक

एक-एक डायलॉग हर एक्टर को याद नहीं हो जाएगा, मैं प्रेस शो नहीं होने दूंगा। आप लोग सब सुन रहे हैं न!"

मुझे लगा, भट्टाचार्य नर्मदिल आदमी है और छोटी सी छोटी पीड़ा भी उसकी आंखों के कोरों में थोड़ी तरलता भर जाती है।"

अचानक अर्पिता ने एक छोटी सी बच्ची की तरह अपने घरेलू लहजे में ठुनकते हुए कहा—"देखिए न भय्या, यह कितनी ज्यादती है, मुझे अपने सब संवाद याद हैं लेकिन भट्टाचार्य जी कहते हैं, नहीं, मुझे अपना रोल हिफ्ज होना चाहिए।"

भट्टाचार्य नाटक की पांडुलिपि पढ़ता-पढ़ता ठिठक गया और एक जगह उंगली रखकर पांडुलिपि मुझे थमाते हुए बोला—"जरा आप भी सुन लीजिए राजीव जी, इन्हीं का तो सारा रोल है और ये समय तो है कि बस हो गया।"

फिर हमने अर्पिता से कहा—"चलिए बोलिए! सिचुएशन वह है जब पति, पत्नी से पूछता है कि तुमने अपना रास्ता तय कर लिया?"

मुझे नाटक के इस अंतिम दृश्य का अच्छी तरह ध्यान था। इसके संवाद लिखते और सुधारते हुए मैं खुद कई जगह रो पड़ा था। मुझे लगा था कि बेचारी मालती अजीब दुविधा में फंस गई है। प्रेमी अब इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं और पति से वह साफ कह चुकी है कि अब उसका इंतजार न करे!

तभी अर्पिता ने संवाद बोलने शुरू कर दिए—" नहीं, मैं अभी तक भटक रही हूं। बियाबान राहों पर अकेले चलने की मुझमें शक्ति नहीं और नई राहें बनाने की इच्छाएं मुझ में मर चुकी हैं···अब तो ऐसा लगता है कि सब राहें घूम-फिरकर मुझे इसी चहारदीवारी में ला खड़ा करती हैं जिससे मैं मुक्ति चाहती हूं। लेकिन मैं तुम्हें दोष नहीं देती! शायद नारी की नियति यही है कि वह पुरुष की सुरक्षा में रहे।

" मैंने वास्तविकता के विरुद्ध षड्यंत्र रचा था, उससे भागने और बचने की कोशिश की थी—लेकिन क्या हुआ? सच्चाइयों ने गर्दन पकड़कर निर्भयतापूर्वक मुझे आईने के सामने ला खड़ा किया। "

अर्पिता सिसक-सिसककर रोने लगी थी। उसके मेकअप से सने चेहरे पर आंसुओं की लहरें उभर आई थीं और उसके होंठ बुरी तरह कांप रहे थे।

उन क्षणों में मुझे लगा कि मैं नाटक के संवाद नहीं, किसी की आपबीती सुन रहा हूं!

और पहली बार उस चीज की अनुगूंज मेरे भीतर जबरदस्त हलचल पैदा कर गई। मैं रह-रहकर अपने भीतर झांकने लगा। बराबर ऐसा महसूस होता रहा जैसे सच्चाई के दो सख्त और खुरदरे हाथ मेरी गर्दन की तरफ बढ़े आ रहे हैं···बढ़े आ

रहे हैं।

तभी सहसा अन्नी के फूट-फूटकर रो उठने से सबका ध्यान उधर चला गया। अर्पिता ने दौड़कर हंसते हुए उसे गोद में उठा लिया और प्रशंसा मांगने वाली दृष्टि से मेरी और भट्टाचार्य की ओर देखा।

"बहुत सुंदर, बहुत सुंदर!" भट्टाचार्य ने ओंठ भींचते और खोलते हुए कहा, "लेकिन तुम अंतिम वाक्य हमेशा क्यों छोड़ जाती हो?"

इसके बाद उसे एक मीठी सी झिड़की देते हुए उसने मुझे भी स्क्रिप्ट दिखलाई थी। एक वाक्य पर उंगली रखते कहा—"यह देखिए, कितना इम्पोर्टेंट संकेत छूट गया है।"

मैंने वाक्य पढ़कर सहमति में गर्दन हिलाई। मेरे भीतर बैठा हुआ लेखक सजग हो उठा और मुझे लगा कि अर्पिता का अवचेतन इस वाक्य के तथ्य को स्वीकार करने में आनाकानी कर रहा है। वाक्य था, 'लो, मैं अपनी पराजय स्वीकार करती हूं। तुम मुझे दंड दो।'

कमल और मैं साइकिल पर अल्फ्रेड पार्क जा रहे थे। मैं साइकिल चला रहा था और वह पीछे कैरियर पर बैठा था। मैं जानता था, मैं उसे क्यों ले जा रहा हूं।

वैसे कल ही कमल ने जिक्र किया था—'वहां एक नया रास्ता खुला है। वह मन में सोच रहा होगा कि वही हमारी मंजिल है। उसने इस विषय में कुछ कहा भी था, जो मैंने सुना नहीं।'

मेरे दिमाग में रह-रहकर बुग्गन बको की तस्वीर उभर रही थी। मैं जब हाई स्कूल में पढ़ता था, ईद की छुट्टियों में गांव आया हुआ था। अगले दिन सुबह-सुबह हब्बू कसाई को बुग्गन की रस्सी पकड़े मदरसे की तरफ जाते देखा तो फौरन समझ गया कि आज इसकी खैर नहीं है। मन में बहुत सारे खयाल उठे। बुग्गन के साथ हमारी जो छेड़छाड़ चलती थी, उसका भी खयाल आया। और यह भी खयाल आया कि बुग्गन क्या सोच रहा होगा। शायद वह इसी भ्रम में ही हो कि हब्बू रोज की तरह उसे मदरसे वाले बाग पर ले जाकर छोड़ देगा। इसलिए वह बड़ी शान से गर्दन उठाए 'बों बों', करता हुआ चल रहा था। उसकी आंखों में हरी-हरी झरबेरियां नाच रही थीं।

"अच्छा!" मैंने सहसा अपना इरादा बदल दिया और अल्फ्रेड पार्क के गेट में घुसते हुए मूर्तियों के बाईं ओर जाने वाली सड़क पर उतर गया, जो उस रेस्तरां तक जाती थी। लेकिन मेरी विचार-शृंखला पूरी तरह टूटी नहीं।

मैंने हब्बू कसाई से पूछा था, "इधर कहां?" तो उसने बड़ी निस्संगता से उत्तर दिया था, "आज ईद है न बाबू।" और फिर बकरे की तारीफ करते हुए उसकी शक्ति और फुर्तीलेपन की बावत बहुत कुछ कहा था, जिसका मतलब सिर्फ यह था कि ऐसे जबरदस्त बकरे को वह अकेला जिबह नहीं कर सकता, इसलिए अभी पूरा की तरफ ले जा रहा है जहां मुसलमानों के कई घर हैं।

सहसा कमल ने फिर एक सवाल किया—"क्या खिलाओगे प्यारे! कल तो तुम्हें रेडियो का चेक मिला है!"

"जो कहो।" मैंने बुग्गन के विचार को जबरदस्ती दिमाग से धकेलते हुए कहा, "आज मैं तुम्हें जी भरकर खिलाना चाहता हूं।"

"क्या बात है? बड़े खुश नजर आ रहे हो?" उसने सहसा मेरी ओर देखते हुए कहा मगर तत्काल ही उसे अपनी भूल का अहसास हो गया, क्योंकि मेरे चेहरे पर अंतर्द्वंद्व और तनाव की रेखाएं बहुत साफ थीं।

वह खामोश होकर साइकिल स्टैंड की तरफ देखने लगा। अपनी साइकिल के अलावा एक और साइकिल वहां खड़ी थी पर रेस्तरां में दूसरा कोई आदमी नहीं था।

तीन-साढ़े तीन का वक्त हो रहा होगा। चिलचिलाती हुई धूप सड़कों पर बिछी थी। पार्क की झाड़ियों में छांह के छोटे-छोटे धब्बे पड़े थे। पेड़ अनमन और ऊंघते हुए से लग रहे थे। कभी-कभी हवा चलती तो बहुत से पत्ते भरभर उड़ते हुए धीरे-धीरे जमीन पर आने लगते।

मुझे लगा, प्रकृति फिर भी दयालु है। वसंत का स्वप्न तोड़ती है तो पत्तों को हवा के हाथों से इतने धीरे-धीरे सहलाती और दुलारती हुई जमीन पर लाती है कि उन्हें शायद अपने भूल से उखड़ने या किसी स्वप्न के टूटने की अनुभूति न होती हो। मगर जिंदगी···किसी हब्बू कसाई की तरह क्रूर है, अपने पाले-पोसे सपनों को सेंत-मेंत में हलाल कर डालती है।

"राजीव! चाय ठंडी हो रही है।" कमल ने मेरा ध्यान दरअसल चाय की ओर आकर्षित कराने के बहाने अपनी ओर खींचा और फिर मेरा हाथ निहायत गर्मजोशी से अपने हाथ में लेकर मेरी ओर देखने लगा।

वही बड़ी-बड़ी बोलती हुई भावपूर्ण आंखें···जिनमें मैंने अपने दुःख और सुख की सैकड़ों परछाइयां तिरती हुई देखी हैं—जिनमें मेरे विद्यार्थी जीवन के किशोर सपनों की झलकियां और युवा संकल्पों की सैकड़ों साक्षियां छिपी हुई हैं। आज मैं इनमें जो भाव देखूंगा, वह उन सबसे कितना भिन्न होगा! कितना अलग! कितना अवसादमय!!

मुझे लगा कि मैं कमल से जो कहना चाहता हूं, कह न पाऊंगा। कमरे में

बैठकर, किसी साहित्यिक संवाद या भौतिक घटना से प्रेरित होकर थोड़ी-बहुत देर के लिए आत्मबल अनुभव करना एक बात है और उसे जीवन में ढाल लेना दूसरी। मुझे लगा, मेरे संकल्प टूट रहे हैं और मैं हब्बू कसाई नहीं हो सकता कि इतने जतन से पाली हुई दोस्ती के स्वप्न का, बुग्गन बकरे की तरह एक ही बार में कामतमाम कर दूं।

"तुम कह क्यों नहीं डालते, जो तुम्हारे मन में है। क्या मुझसे भी दुराव रखोगे?" कमल ने बहुत प्यार के साथ मेरी ओर देखा तो मुझे बेसाख्ता बुग्गन उसकी नदवरों की नुमाइश करती हुई वह मुद्रा शायद याद आ गई, जब हब्बू के पीछे अकड़ता हुआ वह चल रहा था। साथ ही हरीश का वह वाक्य भी मेरे जेहन में उभर आया जो उसने नाटकघर से लौटते हुए कहा था—

"प्यारेलाल, हकीकत तुम्हारी कल्पनाओं से अपना चोला नहीं बदलेगी, वह तो गर्दन पकड़कर आईना सामने रख देगी।"

कमल ने फिर आग्रह और मनुहार की दृष्टि से मेरी ओर देखा तो इस बार मुझे लगा कि बुग्गन की रस्सी मेरे हाथों में आ गई है और मैं एक लौकिक कर्तव्य का पालन करने के लिए कृतसंकल्प हूं। मेरे चेहरे का तनाव जरूर ढीला पड़ गया होगा। मैंने बहुत आहिस्ता से अपना हाथ उसके दोनों हथेलियों के बीच से खींच लिया और कहा—"हरीश का अनुमान सही है। अर्पिता से मेरे···संबंध हैं···।"

"क्या?" उसकी आंखें आश्चर्य की यातना से फैल गईं। पार्क का सारा पतझर उनमें साकार हो उठा जैसे सैकड़ों वृक्ष देखते ही देखते पातविहीन हो गए हों, जैसे धरती पीले पत्रों से अंट गई हो, जैसे आकाश में भूरा-मटमैला सा एक ही रंग यहां से वहां तक छाया हुआ हो।

बहुत देर बाद उसने पलकें झपकाई थीं और भयंकर बेगानेपन से मेरी ओर देखा था। एक लंबी खामोश यात्रा के बाद उसने अपने आप से ही बुदबुदाकर कहा था—'यह सच है!!!'

"हां, दैनिक!" यह छोटा सा वाक्य कहकर मैंने देखा कि मैं अपने आप थोड़ी देर पहले के कमल की स्थिति में आ गया हूं। मैंने झुककर उसका हाथ अपने हाथों में दबा लिया है। उसकी हथेली पसीने से चिपचिपा रही है और मुझे अनुभव हो रहा है कि उसके भीतर भी जाने कितना कुछ रिस गया होगा।

वह बिलकुल खामोश बैठा रहा और पास की बंसवट पर चिड़ियों के झुंड चूं-चूं कर रहे थे। न जाने कब से जलती हुई सिगरेट का टुकड़ा अचानक ऐश-ट्रे के भीतर लुढ़का तो मैंने अचानक उसके कंधे पकड़कर उसे बुरी तरह झकझोर दिया, और

शायद ऊंची आवाज में बोला—"तू कुछ कह तो यार! मुझे गाली दे, मेरी दोस्ती पर लानत भेज, मुझे जूतों से मार! पर यों खामोश न बैठ! तेरी चुप्पी मुझे मारे डाल रही है।"

"ठीक है।" अचानक बिल लेकर सामने आ खड़े हुए बैरे की ओर देखते हुए कमल ने मुझे भी वस्तुस्थिति का बोध करा दिया। पेमेंट लेकर बैरा चला गया तो उसने कहा, "तुम मेरे अगर दोस्त न होते''तो मैं तुम्हारी खाल खींचकर उसमें भुस भर देता और इन बसैली की संटियों से तब तक तुम्हें मारता रहता, जब तक कि भीतर का भुस और बाहर की चमड़ी सलामत रहती।

इसके बाद एक गहरी अर्थपूर्ण चुप्पी हमारे चेहरों की गंभीरता पर छा गई थी। पेड़ों से झरते हुए पत्ते, धूप-छांह में खेलती हुई चिड़ियां और सूना नीरव आकाश, सब कुछ अपनी जगह छोड़कर अचानक हम दोनों उठ खड़े हुए। बिना कुछ बोले स्टैंड से साइकिल उठाई और धीरे-धीरे घर की ओर चल दिए।

परंतु फर्क इतना था कि इस बार वह साइकिल चल रही थी और मैं पीछे कैरियर पर बैठा था।

'सूर्य का स्वागत' से 'साये में धूप' तक का विश्लेषण

डॉ० साधना कांतिकुमार

दुष्यंत कुमार त्यागी हिंदी के उन साहित्यकारों में हैं, जिन्होंने अनेक विधाओं में अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। सामान्यतया हिंदी के पाठक उन्हें एक कवि के रूप में ही जानते हैं, किंतु दुष्यंत कुमार ने आलोचना लिखी है, उपन्यास लिखे हैं, काव्य-नाटक लिखे हैं और बालोपयोगी साहित्य भी लिखा है। वास्तव में दुष्यंत कुमार लगातार कथ्यानुरूप विधा की तलाश करते हुए साहित्यकार हैं! उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में प्रयोग किए, किंतु लगता है कि वह अपनी प्रतिभा के सर्वाधिक उपयुक्त विधा को अपने जीवन के अंतिम दिनों में ही पहचान पाए। रामावतार त्यागी जब दुष्यंत कुमार को गीत की दुनिया छोड़ने का अपराधी घोषित करते हैं और ऊपर नई कविता के बियाबान में भटकने का आरोप लगाते हैं तो वास्तव में वह भी दुष्यंत कुमार की अपनी विधा तय न कर पाने की शिकायत करते हुए लगते हैं।

दुष्यंत कुमार ने अपना साहित्यिक जीवन बारह वर्ष की आयु से ही प्रारंभ कर दिया था और वे उन दिनों—'किसी एक वन में रहता था चतुर शिकारी एक'—जैसी कविता लिखा करते थे। अपने वयस्क साहित्यिक जीवन का समारंभ उन्होंने 'परदेसी' के रूप में किया था।

अपने जीवन में जितनी सफलता उन्हें गजलें लिखकर मिली, उतनी संभवतः किसी अन्य साहित्य-रूप के माध्यम से नहीं। इसका कारण यही है कि दुष्यंत कुमार संवेदना संपन्न, अन्याय के विरुद्ध बेचैन, आधुनिक मन वाले कलाकार थे। वह नई कविता के प्रतिनिधि कवि नहीं थे। नई कविता की रूढ़ियों का उनके काव्य में प्रायः अभाव है। उनकी नई कविता प्रयोगधर्मा नहीं है। वह संवेदना के स्तर पर नए कवियों के निकट दिखाई पड़ते हैं, शिल्प के स्तर पर नहीं। उनकी नई कविताओं में भी वही कविताएं विशेष मार्मिक बन पड़ी हैं, जिनमें उनकी रूमानियत अन्याय का प्रतिरोध करने वाली भावना का रूप ग्रहण करती हैं। दुष्यंत कुमार की गजलें हमारे समसामयिक इतिहास की एक प्रतिक्रिया विशेष का दस्तावेज कही जा सकती

हैं। प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने स्वतंत्रता के आपातकालपूर्व निरंतर गहराते हुए मोहभंग को वाणी दी है। किंतु इन प्रयासों में एक ओर उनकी सामाजिक चेतना और इतिहासबोध जहां अत्यंत सूक्ष्म और प्रखर दिखाई पड़ता है, वहीं उनका 'परदेसीपन' अपनी संपूर्ण रूमानियत के साथ उनके सामाजिकबोध की धार को अवरुद्ध करता है। अनेकानेक प्रखर, धारदार और प्राणवान पंक्तियों के साथ में ये मखमली पंक्तियां—

वो घर में मेज पर कुहनी
टिकाए बैठी हैं,
थमी हुई है वहीं उम्र आजकल
लोगो।

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि दुष्यंत कुमार ने अपने प्रारंभिक साहित्यिक जीवन में समीक्षा भी लिखी थी, गो यह बात दूसरी है कि वह समीक्षा बहुकोपयोगी और अध्यापकीय है। 'चेतन' अश्क जी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है जो अनेक विश्वविद्यालयों में कभी पाठ्यक्रमों में निर्धारित हुआ करता था। दुष्यंत कुमार ने 'चेतन' को छात्रग्राह्य बनाने के लिए 'चेतन : एक अध्ययन' प्रस्तुत किया था। इस कृति का सारा विन्यास विद्यार्थियों को गाइड करना है।

यह समीक्षा उन्हें किसी मजबूरी में लिखनी पड़ी होगी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समीक्षा में साहित्य-संबंधी उनके भावी विचारों और लेखन के बीज विद्यमान हैं।

दुष्यंत कुमार को हम मूलतः एक कवि के रूप में जानते हैं किंतु उन्होंने कविता के अतिरिक्त कुछ उपन्यास भी लिखे हैं। इन उपन्यासों में 'छोटे-छोटे सवाल', 'आंगन में वृक्ष' और 'दुहरी जिंदगी' उल्लेखनीय हैं, कुछ अधूरे उपन्यास हैं जिन्हें दुष्यंत कुमार 'फालतू उपन्यास' कहना समीचीन समझते थे। दुष्यंत कुमार ने अपने जीवन में जो कटु-तिक्त अनुभव किए हैं, वे ही उनके उपन्यासों में सामान्यीकृत भूमि पर चित्रित हुए हैं। 'आंगन में एक वृक्ष' दुष्यंत कुमार का एक लघु उपन्यास है। इस उपन्यास में दुष्यंत कुमार ने अपने परिवार, मुख्यतया अपने माता-पिता और भाई, की कहानी को ही रूप दिया है, जो 80 प्रतिशत सही है। दुष्यंत कुमार ने इस उपन्यास को एक दर्शक के रूप में लिखा है, क्योंकि उनका कहना है कि 'इस उपन्यास में जो बालक है, वह बड़ा निरीह और गुंथे हुए व्यक्तित्व का बालक है,

लेकिन मैं स्वयं इस उपन्यास की कथा में नहीं हूं।' हिंदी में जमींदारों के जीवन पर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। दुष्यंत कुमार का उपन्यास जमींदारों के जीवन पर है किंतु महत्त्वपूर्ण बात जमींदारों का जीवन नहीं, जमींदारी का बालक दुष्यंत के मन पर पड़ने वाला प्रभाव है। बचपन में उन्होंने अपने गांव राजपुर-नवादा में अपने पिता श्री भगवान सहाय के जो सामंती रंग-ढंग देखे थे और उनके बाल-मन पर जो प्रतिक्रिया हुई थी, उसका चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

'छोटे-छोटे सवाल' भी दुष्यंत कुमार का आत्मानुभूत घटना-वृत्त है। प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा और शिक्षकों की अवस्था पर जो उपन्यास लिखे गए हैं, उनमें 'छोटे-छोटे सवाल' महत्त्वपूर्ण है। 'रागदरबारी' की ही भांति 'छोटे-छोटे सवाल' में भी मुदर्रिसों और मदरसों की टुच्ची राजनीति का बड़ा रोचक वर्णन हुआ है। 'आंगन में एक वृक्ष' के समान यह उपन्यास भी आत्मकथात्मक उपन्यास है। 'छोटे-छोटे सवाल' के चरित्र स्पष्ट और सपाट हैं। वास्तव में दुष्यंत कुमार ने उपन्यास-लेखन को गंभीर साहित्य-कर्म के रूप में कभी नहीं लिया।

दुष्यंत कुमार की साहित्यिक महत्ता का कारण उनकी कविताएं हैं। उनकी काव्य-यात्रा 'सूर्य का स्वागत' से लेकर 'साये में धूप' तक फैली हुई है। 1957 में जो कवि 'सूर्य का स्वागत' करता है, वही 1975 में 'साये में धूप' का अनुभव करने लगता है। क्या यह 24 वर्ष के कवि और 42 वर्ष के कवि की आयु के अंतर के कारण है या अंतराल के इन 18 वर्षों में हमारे आसपास के जीवन में ऐसा कुछ बदल गया है, जिसने कवि की आस्था और उसके सहज आत्मविश्वास को खंडित किया है? वास्तव में दुष्यंत कुमार एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति के आंतरिक द्वंद्व से अपने काव्य की यात्रा प्रारंभ करते हैं। 'सूर्य का स्वागत' एक बेचैन कवि की काव्यकृति है, किंतु उसकी बेचैनी किसी सामाजिक संघर्ष का परिणाम न होकर वैयक्तिक आंतरिक द्वंद्व का परिणाम है। 'सूर्य का स्वागत' में कवि सामाजिक समस्याओं से परेशान नहीं है। इन कविताओं में एक नौजवान कवि की रूमानी आस्था ही मुखर हुई है।

सात वर्ष बाद सन् '63 में प्रकाशित 'आवाजों के घेरे' में दुष्यंत कुमार का काव्य-संसार और अधिक समृद्ध और विस्तृत हुआ है। अनेक विषयों और संदर्भों पर लिखी कविताएं 'आवाजों के घेरे' में संकलित हैं। इस रचना में घायलों और पीड़ितों के स्वर सुने जा सकते हैं। व्यक्तिगत रूमानी जीवन-संदर्भों से हटकर दुष्यंत कुमार 'आवाजों के घेरे' में जीवन की तिक्तता को भी वाणी देते हैं। उनकी जबान वही सीधी-सादी है, शैली वही वार्तालाप की है, किंतु आस्था का रूप अधिक स्पष्ट

वैचारिक भूमिका पर स्थित है और वह स्वयं और उष्ण धरती के बीच एक संबंध भी निर्धारित करता है—

मैं तो बस जलभीगा कपड़ा हूं
जिसको निचोड़कर मेरी
ये कविताएं
उष्ण इस धरती के ऊपर
छिड़क देती हैं''
कविताएं माध्यम हैं शायद''

नई कविता के इतिहास में दुष्यंत कुमार को प्रतिष्ठा अपनी कविताओं के कारण उतनी नहीं मिली, जितनी अपने काव्य-नाटक 'एक कंठ विषपायी' के कारण। 'एक कंठ विषपायी' को सहज ही 'अंधा युग', 'संशय की एक रात' और 'आत्मजयी' के साथ उल्लिखित किया जा सकता है। इसमें दुष्यंत कुमार एक समर्थ कवि एवं सजग विचारक के रूप में उपस्थित हैं। 'एक कंठ विषपायी' जर्जर रूढ़ियों और परंपराओं के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नए मूल्यों को संकेतित करने वाला एक समर्थ काव्य-नाटक है। इसमें कवि ने एक पौराणिक कथा को अपने काव्य का विषय बनाया है। शंकर ने सृष्टि की रक्षा के निमित्त हलाहल-पान कर लिया था। इसीलिए उन्हें 'नीलकंठ' कहा जाता है। 'एक कंठ विषपायी' आशय ऐसे पात्र से है जो व्यापक हित के निमित्त सारा लांछन और सारी पीड़ा स्वयं स्वीकार कर लेता है। आधुनिक काल में अनेक कवियों ने अपने काव्य के लिए पौराणिक कथाओं का प्रयोग किया है किंतु इन सभी कवियों में एक तथ्य विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वे पुराने कथानकों का उपयोग तो अवश्य करते हैं किंतु उनका पिष्टपोषण नहीं करते। पुरानी कथा के माध्यम से वे समाज के नए मूल्यों और नई स्थितियों पर विचार करना चाहते हैं।

'एक कंठ विषपायी' में दक्ष, सर्वहत ओर शंकर प्रतीक पात्र हैं। दक्ष परंपरा के प्रतीक हैं। शंकर उन लोगों के प्रतीक हैं, जो क्रांति का नेतृत्व करते-करते प्रतिक्रिया-वादी हो जाते हैं। वर्तमान प्रजातंत्र में सामान्यजन को नेताओं द्वारा जो भुलावे दिए जाते हैं और चुनाव जीत जाने पर उसकी जो दुर्गति की जाती है, वह सब सर्वहत के माध्यम से कवि ने हमारे सम्मुख उजागर किया है। कहने का आशय यह है कि 'एक कंठ विषपायी' एक प्रतीक कथा है। इन कथाओं में कथा का अर्थ तो होता ही है, एक प्रतीकार्थ भी होता है, जिससे कथा विशेष रूप से सार्थक और संगत बन

जाती है। दक्ष को इस बात का क्षोभ है कि उनकी पुत्री पार्वती ने उनकी इच्छा के विरुद्ध शंकर से विवाह किया है। पार्वती परंपरा है, दक्ष परंपरावादी हैं। दक्ष के यज्ञ में शंकर जैसा व्यवहार करते हैं, वह एक क्रांतिकारी के लिए उचित है। किंतु शंकर जैसे क्रांतिकारी या सती के अवसान से असंतुलित होकर प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं और क्रांति को आगे न बढ़ाकर परंपरा का शव ढोते घूमने लगते हैं।

कवि ने शंकर के पक्षधर और विरोधी पात्र के माध्यम से हमारे प्रजातंत्र के विभिन्न वर्गों पर व्यंग्य किया है। हमारे समाज में जो सत्ता में आसीन हैं, वे सत्ता में आसीन अपने अन्य बंधुओं की सुरक्षा चाहते हैं तथा उनकी सहायता करते हैं। ब्रह्मा एक ऐसे ही पात्र हैं। इंद्र उस वर्ग के प्रतीक हैं जो सत्ता की दूसरी सीढ़ी पर हैं और चाहते हैं ऊपर की सीढ़ी पर बैठा व्यक्ति वहां से हटे तो वह एक सीढ़ी आगे और बढ़ सकें। कवि ने ब्रह्मा और इंद्र के माध्यम से इसी सत्ता-संघर्ष की ओर संकेत किया है। इन सब में दीन-हीन-निरीह पात्र सर्वहत है। जैसे हमारे प्रजातंत्र में सारे दल जनता का नाम लेकर उसका शोषण करते हैं, वैसे ही 'एक कंठ विषपायी' में यदि कोई अभागा पात्र है, तो वह सर्वहत है।

□□

जाती है। दक्ष को इस बात का क्षोभ है कि उनकी पुत्री पार्वती ने उनकी इच्छा के विरुद्ध शंकर से विवाह किया है। पार्वती परंपरा है, दक्ष परंपरावादी हैं। दक्ष के यज्ञ में शंकर जैसा व्यवहार करते हैं, वह एक क्रांतिकारी के लिए उचित है। किंतु शंकर जैसे क्रांतिकारी या सती के अवसान से असंतुलित होकर प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं और क्रांति को आगे न बढ़ाकर परंपरा का शव ढोते घूमने लगते हैं।

कवि ने शंकर के पक्षधर और विरोधी पात्र के माध्यम से हमारे प्रजातंत्र के विभिन्न वर्गों पर व्यंग्य किया है। हमारे समाज में जो सत्ता में आसीन हैं, वे सत्ता में आसीन अपने अन्य बंधुओं की सुरक्षा चाहते हैं तथा उनकी सहायता करते हैं। ब्रह्मा एक ऐसे ही पात्र हैं। इंद्र उस वर्ग के प्रतीक हैं जो सत्ता की दूसरी सीढ़ी पर हैं और चाहते हैं ऊपर की सीढ़ी पर बैठा व्यक्ति वहां से हटे तो वह एक सीढ़ी आगे और बढ़ सकें। कवि ने ब्रह्मा और इंद्र के माध्यम से इसी सत्ता-संघर्ष की ओर संकेत किया है। इन सब में दीन-हीन-निरीह पात्र सर्वहत है। जैसे हमारे प्रजातंत्र में सारे दल जनता का नाम लेकर उसका शोषण करते हैं, वैसे ही 'एक कंठ विषपायी' में यदि कोई अभागा पात्र है, तो वह सर्वहत है।

□□

कमलेश्वर

जन्म : 6 जनवरी, 1932, मैनपुरी (उ.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. (हिंदी), इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

कहानी-संकलन : राजा निरबंसिया, कस्बे का आदमी, बयान जार्ज पंचम की नाक, खोई हुई दिशाएं, मांस का दरिया, इत[illegible] अच्छे दिन, कोहरा, रावल की रेल, समग्र कहानियां, द[illegible] प्रतिनिधि कहानियां, आज़ादी मुबारक।

उपन्यास : एक सड़क सत्तावन गलियां, लौटे हुए मुसाफि[illegible] तीसरा आदमी, समुद्र में खोया हुआ आदमी, काली आंधी आगामी अतीत, [illegible], वही बात, सुबह दोपहर शाम डाकबंगला, [illegible], एक और चन्द्रकांता (दो भाग)

यात्रा-वृत्तांत : [illegible] बाद, देश-देशांतर।

आत्मकथा : जो [illegible] के चिराग, जलती हुई नदी।

विविध : नई [illegible], मेरा पन्ना, बंधक लोकतंत्र, सिलसिला थमता [illegible], दस्तक देते सवाल, मेरे साक्षात्कार, अपनी निगाह में आदि।

पत्रकारिता : इंगित, संकेत, नई कहानियां, सारिका, श्रीवर्षा, गंगा, कथायात्रा, दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर का संपादन।

सीरियल लेखन : चन्द्रकांता, आकाशगंगा, युग, रेत पर लिखे नाम, बिखरे पन्ने, दर्पण आदि।

फिल्में : आंधी, मौसम, अमानुष, द बर्निंग ट्रेन, राम बलराम, सौतन, पति-पत्नी और वह, नटवरलाल, सारा आकाश, डाकबंगला आदि लगभग 100 स्क्रिप्ट्स।

संपादन : गुलमोहर फिर खिलेगा आदि।

स्मृति-शेष : 27 जनवरी, 2007

किताबघर प्रकाशन

ISBN—978-93-82114-25-3